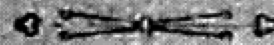
काश्मीर-संस्कृतग्रन्थावलिः



ग्रन्थाङ्कः ३०



# श्रीतन्त्रालोकः



काश्मीर-श्रीनगर

# THE KASHMIR SERIES
OF
# TEXTS AND STUDIES.

KASHMIR SERIES OF TEXTS AND STUDIES.
No. XXX.

# THE TANTRĀLOKA

OF

## ABHINAVA-GUPTA.

WITH COMMENTARY
BY

## RAJANAKA JAYARATHA.

EDITED WITH NOTES
BY

PAṆḌIT MADHUSŪDAN KAUL, SHÂSTRÎ, M. A., M. O. L.,
SUPERINTENDENT OF THE RESEARCH DEPARTMENT,
JAMMU AND KASHMIR STATE,
SRINAGAR.

---

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT
OF HIS HIGHNESS LIEUT.-GENERAL MAHĀRĀJA
SIR PRATĀP SINGH SĀHIB BAHĀDUR,
G. C. S. I., G. C. I. E., G. B. E., LL. D.,
MAHĀRĀJA OF JAMMU AND KASHMIR STATE.

---

**Volume III.**

---




BOMBAY:
PRINTED AT THE "TATVA-VIVECHAKA" PRESS.
1921.

श्रीसोमानन्दनाथप्रभृतिगुरुवरादिष्टसन्नीतिमार्गो
लब्ध्वा यत्रैव सम्यक्पटिमनि घटनामीश्वराद्वैतवादः ।
कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलो रञ्जयन्सर्वदेश्यान्
देशेऽन्यस्मिन्नदृष्टो घुसृणविसरवत्सर्ववन्द्यत्वमाप ॥ १ ॥

तरत तरसा संसाराब्धिं विधत्त परे पदे
पदमविचलं नित्यालोकप्रमोदसुनिर्भरे ।
विमृशत शिवादिष्टाद्वैतावबोधसुधारसं
प्रसभविलसत्सद्युक्त्यान्तःसमुत्प्लवदायिनम् ॥ २ ॥

ॐ

काश्मीर-संस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ३०

# तन्त्रालोकः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य—श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचितः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य—श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यटीकोपेतः

श्रीभारतधर्ममार्तण्ड-कश्मीरमहाराज-

श्रीप्रतापसिंहवरप्रतिष्ठापिते प्रत्नविद्याप्रकाश-(रिसर्च) कार्यालये

तदध्यक्ष-पण्डित-मधुसूदन-शास्त्रिणा

उद्दिष्टकार्यालयस्थपण्डितसहायेन

संगृह्य, संशोधन-पर्यायाङ्कन-विवरणादिसंस्करणोत्तरं

पाश्चात्यविद्वत्परिषत्संमताधुनिकसुगमशुद्धरीत्युपन्यासादिसंस्कारैः परिष्कृत्य

मुम्बय्यां

तत्त्वविवेचकाख्य-मुद्रणालये मुद्रापयित्वा प्राकाश्यमुपनीतः




संवत् १९७७ ख्रैस्ताब्दः १९२१

काश्मीर-श्रीनगर

Printed by
Vithal Tanaji Modak at The "Tatva-Vivechaka" Press,
No. 3544, Parel Road, New Nagpada, opposite
Richardson & Cruddas Office, Bombay.

and Published by
The Research Department, Jammu and Kashmir State,
Srinagar.

प्रथमपरिशिष्टम् ।

## अथ
## श्रीतन्त्रालोके चतुर्थपञ्चमाह्निकयोर्मूलश्लोकानामकारा-द्यनुक्रमणिका ।


| श्लो० | पृ० सं० | श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|---|---|
| अंअः इति कुलेश्वर्या | २७३ | अथ प्राणस्य या वृत्तिः | ३४८ |
| अकल्पितो गुरुर्ज्ञेयः | ५८ | अथ वास्मद्दृशि प्राण- | १०४ |
| अकिंचिच्चिन्तकस्तत्र | ३९४ | अथ शाक्तमुपायमण्डलं | १ |
| अकृत्रिमैतद्धृदया- .... | २२७ | अदृष्टमण्डलोऽप्येवं .... | ५६ |
| अखण्डेऽपि परे तत्त्वे | २९९ | अधः प्रवाहसंरोधात् | ३९६ |
| अत ऊर्ध्वं पुनर्याति | १५० | अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन् | २ |
| अत एव स्वप्नकाले.... | १०८ | अनयैव दिशान्यानि | ३४८ |
| अत एषा स्थिता संवित् | १५६ | अनवच्छिन्नविज्ञान- | २५९ |
| अतश्च भैरवीयं यत् | ७ | अनाच्छादितरूपायां | ४६६ |
| अत्र तात्पर्यतः प्रोक्तम् | १५४ | अनावृते स्वरूपेऽपि | १० |
| अत्र नाथः समाचारं | २४१ | अनुत्तरपदप्राप्तौ .... | ४६८ |
| अत्र प्रयासविरहात | ४३१ | अनुत्तरेऽभ्युपायोऽत्र | ४३४ |
| अत्र भैरवनाथस्य .... | ४३१ | अनुभूय परे धाम्नि | ३९७ |
| अत्र यागे गतो रूढिं | २३९ | अन्तः संविदि रूढं हि | १०३ |

| श्लो० | पृ० सं० |
| --- | --- |
| अन्तरिन्धनसंभारम् | २३२ |
| अन्तर्नदत्परामर्श- ... | २२० |
| अन्तर्बाह्ये द्वये वापि | ३८८ |
| अन्यतो लब्धसंस्कारः | ८२ |
| अन्यदाश्यानितमपि | १७२ |
| अन्योन्याश्रयता सेय | २४६ |
| अन्योन्याश्रयवैयर्थ्या | २४५ |
| अपवादेन कर्तव्यः .... | २५४ |
| अबुद्धिपूर्वं हि तथा | २५८ |
| अभिषिक्तः स्वसंवित्ति- | ४६ |
| अर्थक्रियार्थितादैन्यं | ३८३ |
| अर्थवादोऽपि यत्रान्य | २६० |
| अर्थेषु तद्भोगविधौ | ४३४ |
| अलं रहस्यकथया | ३८१ |
| अलं वातिप्रसङ्गेन | ३०६ |
| अव्यक्तानुकृतिप्रायो | ४४४ |
| असंकोचविकासोऽपि | ३८९ |
| अस्मिंश्च यागे विश्रान्ति | ३०५ |
| अहंकारस्तु करणम् | १७६ |
| अहन्ताच्छादितोन्मेषि- | ४२३ |
| अहिंसा सत्यमस्तेय- | ९४ |
| आकस्मिकं व्रजेद्बोधं | ७९ |
| आगमानां गतीनां च | ३०४ |
| आणवेन विधिना परधा | ३०९ |
| आत्मन्यनात्मतानाशे | ४१७ |
| आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं | ८३ |
| आत्माख्यं यद्व्यक्तं | ४२७ |
| आत्माणुकुलमूलानि | ४०४ |
| आत्माभिमानो देहादौ | ४१५ |
| आनन्दचक्रं वह्न्यश्रि | ४२० |
| आनन्दनाडीयुगल- | ३७६ |
| आरोहत्येव सन्मार्गे | ४३ |
| आविश्य शुद्धो निखिलं | ११८ |
| आश्वस्तो नोत्तरीतव्यं | २७ |
| आश्वासश्च विचित्रोऽसौ | ८७ |
| इच्छाज्ञानक्रियारोहं | २१६ |
| इच्छाज्ञानक्रियाशक्ति- | ३५८ |
| इच्छावान्भावरूपेण | १५९ |

| श्लो० | पृ० सं० | श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|---|---|
| इति पञ्चविधामेनां.... | २०५ | उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च | १११ |
| इति भैरवशब्दस्य.... | ४४८ | उक्तं स्वच्छन्दशास्त्रे तत् | ४२ |
| इति श्रीपूर्ववाक्ये तद् | ५० | उच्चारणं च प्राणाद्या | ३२७ |
| इत्थं च मानसंप्लुत्यां | ९२ | उच्यते स्वात्मसंवित्तिः | ८ |
| इत्थं भोग्येऽपि संभुक्ते | १७४ | उत्कर्षः शुद्धविद्यांश- | ८० |
| इत्थमस्तु तथाप्येषा | २५१ | उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् | २७५ |
| इत्यजानन्नेव योगी | १५४ | उदानवह्नौ विश्रान्तो | ३४९ |
| इत्युक्तमत एव श्री- | ४१८ | उपलक्षणमेतच्च | ४६४ |
| इत्युच्चारविधिः प्रोक्तः | ४३८ | एकस्य स्पन्दनस्यैषा | ४२८ |
| इत्येतत्प्रथमोपाय- | ३४७ | एकैकमासां वह्न्यर्क- | ३३६ |
| इत्येनया बुधो युक्त्या | ४६१ | एकैवेति न कोऽप्यस्याः | २०७ |
| इदं तल्लक्षणं पूर्ण- | ४२२ | एतच्च स्फुटमेवोक्तं | ४२१ |
| इदं द्वैतमिदं नेति | २८३ | एतत् खं दशधा प्रोक्तम् | ४०४ |
| इमाः प्रागुक्तकलनाः | १८८ | एतद्रूपपरामर्शम् | २२४ |
| इयतीं रूपवैचित्रीम् | १८६ | एतद्वीर्यं हि सर्वेषां | २२४ |
| इह सर्वात्मके कस्मात् | २८५ | एताल्लिङ्गसमापत्ति- | ४३२ |
| उक्तं त्रैशिरसे चैतत् | ३१७ | एतस्यां स्वात्मसंवित्तौ | १८३ |
| उक्तं भर्गशिखायां च | २८४ | एवं त्रिशूलात्प्रभृति | ३४५ |
| उक्तं मुख्यतयाचार्यो | ६९ | एवं प्रतिक्षणं विश्वं | ३४५ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| एवं योगाङ्गमियति | ९२ |
| एवं यो वेत्ति तत्त्वेन | ५७ |
| एवं श्रोत्रेऽपि विज्ञेयं | १५३ |
| एष यागविधिः कोऽपि | २३९ |
| कदलीसंपुटाकारं | ३३१ |
| कन्दहृत्कण्ठताल्वग्र.... | ४५९ |
| करणस्य विचित्रत्वात् | ८५ |
| कर्ता च द्विविधः प्रोक्तः | १७९ |
| कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि | १७५ |
| कस्यचित्तु विकल्पोऽसौ | ३११ |
| कालाग्निरुद्रसंज्ञास्य.... | १८० |
| किंचिच्चलनमेतावत् | २१४ |
| किंचित्कर्तुं प्रभवति | ४१९ |
| किं तु तूष्णींस्थितिर्यद्वा | ८१ |
| किं तु दुर्घटकारित्वात् | ९ |
| किं त्वेतदत्र देवशि | २४२ |
| किं पुनः समयापेक्षां | ४५४ |
| कुलयोगिन उद्रिक्त- | २३१ |
| केतकीकुसुमसौरभे भृशं | ३०९ |
| क्रमाक्रमकथातीतं | २०८ |
| क्वचित्संदर्शितं ब्रह्म- | २७३ |
| क्वचित्स्वभावममल | ११४ |
| क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च | २४२ |
| खं खं त्यक्त्वा खमारुह्य | ३९८ |
| गतिः स्वरूपारोहित्वं | २०४ |
| गुरुभिर्भाषितं तस्मात् | ४६७ |
| गुरुवाक्यपरामर्श- | १०७ |
| गुरुशास्त्रगते सत्त्वे | ४१ |
| गुरोः स शास्त्रमन्विच्छुः | ७५ |
| गुल्फजान्वादिषु व्यक्तं | १५२ |
| ग्राह्यग्राहकचिद्व्याप्तिः | ४३९ |
| चक्रं सर्वात्मकं तत्तत् | ३४० |
| चक्रेणानेन पतता | ३४० |
| चतुःषड्द्विर्द्विगुणित | ३९८ |
| चतुष्किकाम्बुजालम्बि | ३५८ |
| चतुष्षष्टिशतारं वा | ३४६ |
| चतुर्थं चानवच्छिन्नं | ३३६ |
| चतुर्ष्वेव विकल्पेषु | ४ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| चित्तस्य विषये क्वापि | ९८ |
| चिद्विमर्शपराहंकृत् | ३६७ |
| जटादि कौले त्यागोऽस्य | २८७ |
| जप्यादौ होमपर्यन्ते | २३४ |
| जाज्वलीति हृदम्भोजे | ४६३ |
| जितरावो महायोगी | ४०९ |
| ज्ञानधर्मोपदेशेन | ६१ |
| ज्वालादिलिङ्गं चान्यस्य | २९४ |
| तं प्राप्यापि चिरं कालं | ३५ |
| ततः स्फुटतमोदार- | ६ |
| ततः स्फुटतरो यावद् | ५ |
| ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये | ३९१ |
| तच्चक्रपीडनाद्रात्रौ | १४२ |
| तच्च यस्य यथैव स्यात् | २४२ |
| तज्ज्ञेयं संविदाख्येन | ३८६ |
| ततोऽन्तःस्थितसर्वात्म | १८४ |
| ततोऽपि देहारम्भीणि | १२० |
| ततोऽपि संहाररसे | १६३ |
| ततो विसर्गोच्चारांशे | ४५७ |
| ततश्च प्रागियं शुद्धा | १५७ |
| तत्तेनाकृतकस्यास्य | ११२ |
| तत्त्वज्ञानात्मकं साध्यं | ६५ |
| तत्त्वज्ञानादृते नान्यत् | ६६ |
| तत्त्वे चेतः स्थिरं कार्यं | ११३ |
| तद्दीक्षाक्रमयोगेन .... | ७६ |
| तन्निषेधस्तु मन्त्रार्थ.... | २९० |
| तत्र तादात्म्ययोगेन | २१० |
| तत्र बुद्धौ तथा प्राणे | ३१५ |
| तत्र विश्रान्तिमागच्छेत् | ३९२ |
| तत्र संवेदनोदार- | ३८७ |
| तत्रस्थस्तापितः सोमो | १५१ |
| तत्रस्थां मुञ्चते धारां | १४४ |
| तत्रानन्दश्च सर्वस्य | १४९ |
| तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं | ४५ |
| तत्संनिधाने नान्येषु | ४८ |
| तत्संविदाधिक्यवशात् | ४६५ |
| तत्संविदि ततः संवित् | ३४४ |
| तथाप्यागमरक्षार्थं | ४४२ |

| श्लो० | पृ० सं० | श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|---|---|
| तथाभासितवस्त्वंश- | १५९ | तस्माद्यत्संविदो नाति | २६७ |
| तथाभासनमेवास्य | ११ | तस्मान्मुख्यतया स्कन्द | २७७ |
| तथा विकल्पमुकुरे | २३६ | तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तत्वात् | ६१ |
| तथा संविद्विचित्राभिः | २३५ | तामसाः परहिंसादि | ७३ |
| तथा सांसिद्धिकज्ञानात् | ८० | तामेनां भावनामाहुः | १३ |
| तथैव परमेशान- | २२९ | तावच्च च्छेदनं ह्येकं | ८५ |
| तदद्वयायां संवित्तौ | ११० | तावद्यावदरावे सा | ४१० |
| तदधीनप्रतिष्ठत्वात् | २१५ | तेनाज्ञजनताक्लृप्त- | ३८ |
| तदन्तर्ये स्थिते शुद्धे | १३७ | तेनात्मलिङ्गमेतत् | ४२७ |
| तदभ्यासवशाद्याति | ४४५ | तेनेन्द्रियौघमार्तण्ड | १७७ |
| तदुक्तं परमेशेन | ३९५ | तेऽप्यर्थभावनां कुर्युः | ४४७ |
| तदेव जगदानन्दम् | ३५५ | त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं | ८४ |
| तदेवममृतं दिव्यं | ३६९ | दिव्यो यश्चाक्षसंघोऽयं | ३९३ |
| तदेषा धारणाध्यान | १०१ | दीक्षयेज्जपयोगेन | ७० |
| तद्दीक्षाक्रमयोगेन | ७६ | दुर्भेदपादपस्यास्य | १२ |
| तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे | ४३९ | देह उत्प्लुतिसंपात | १०६ |
| तन्निषेधस्तु मन्त्रार्थ | २९० | दृष्टेऽप्यदृष्टकल्पत्वं | ३२४ |
| तन्मयीभवनं नाम | २३७ | दृष्ट्वा दृष्ट्वा समाश्लिष्य | ८९ |
| तपःप्रभृतयो ये च | ९४ | द्वैतशङ्काश्च तर्केण | ११० |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| धाम्ना तु बोधयेद्धाम | ४०५ |
| धाम्नि क्षणं समावेशात् | ४११ |
| धावति त्रिरसाराणि | १४८ |
| ध्यानाद्योगाज्जपाज्ज्ञानात् | ६४ |
| ध्याने तदपि चोच्चारे | ४६९ |
| नतु संतोषतः स्वेषु | २५ |
| न द्वैतं नापि चाद्वैतं | २४१ |
| ननु संवित्पराम्रष्ट्री | ८ |
| न यन्त्रणात्र कार्येति | ३०२ |
| नरशक्तिसमुन्मेषि | ४२४ |
| न व्याख्यातं तु निर्भज्य | १५५ |
| न संस्पृश्येत दोषैः स | २४३ |
| न स्वतन्त्रं स्वतो मानं | ८७ |
| न ह्यत्र संस्थितिः कापि | ३५४ |
| न ह्यस्य गुरुणा शक्यं | १०७ |
| नाम शक्तिशिवाद्यन्त- | २९४ |
| नास्मिन्विधीयतेकिंचित् | २४२ |
| नास्मिन्विधीयते तद्धि | ३०० |
| निजानन्दे प्रमात्रंश- | ३४८ |
| निद्रायते पुरा यावत् | ४१२ |
| निराकारे हि चिद्धाम्नि | २२८ |
| निरुपाधिर्महाव्याप्तिः | ३५३ |
| निर्मर्यादं स्वसंवोधं | २९२ |
| निश्चयो बहुधा चैष | ३१४ |
| निष्ठितैकस्फुरन्मूर्तेः | ३२२ |
| निस्तरङ्गतरङ्गादि- | २१५ |
| परतत्त्वप्रवेशे तु | ३०२ |
| परस्मिन्नेति विश्रान्ति | ३६४ |
| परानन्दगतस्तिष्ठेत् | ३४९ |
| परा परापरा चेयं | ३३५ |
| पश्यञ्जडात्मताभागं | ३१८ |
| पश्यन्संवित्तिमात्रत्वे | १२२ |
| पाञ्चरात्रिकवैरिञ्च- | २४ |
| पुंसि ते बाधिते एव | २५५ |
| पूर्वं पदयुगं वाच्यम् | ७५ |
| प्रकाशतातिरिक्ते किं | २४३ |
| प्रकाशस्यात्मविश्रान्तौ | ३६५ |
| प्रतिवारणवद्रक्ते | १३७ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| प्रतिहन्तीह मायीयं | ११७ |
| प्रत्याहारश्च नामायं | ९८ |
| प्रमातृधर्म एवायं | २७१ |
| प्रमातृवर्गो मानौघः | १८६ |
| प्रशाम्यद्भावयेच्चक्रं | ३४३ |
| प्राणायामो न कर्तव्यः | ९६ |
| प्राणे देहेऽथवा कस्मात् | ३२३ |
| प्राणोदये प्रमेये तु | ३४९ |
| प्राप्ते च द्वादशे भागे | ९५ |
| फलं सर्वमपूर्णत्वे | २३८ |
| बोधाग्नौ तादृशे भावा | २३२ |
| बौद्धार्हताद्याः सर्वे ते | २८ |
| भवन्त्यतिसुघोराभिः | २६ |
| भावग्रहादिपर्यन्त- | २१२ |
| भावनातोऽथवा ध्यानात् | ६० |
| भावयेद्भावमन्तःस्थं | ४०२ |
| भावौघे भेदसंधातृ | ११६ |
| भुञ्जीत पूजयेच्चक्रं | २९९ |
| भेदप्राणतया तत्तत् | २९२ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| भेदोपभेदभेदेन | ४०७ |
| भैरवीयमहाचक्रे | ३४२ |
| भोगे रज्येत दुर्बुद्धिः | २१ |
| मते च पुस्तकाद्विद्या- | ७१ |
| मध्यनाड्योर्ध्वगमनं | ३९५ |
| मन्त्रत्वमेति संबोधात् | ३५ |
| मन्त्रद्रव्यादिगुप्तत्वे | ७३ |
| मन्त्राः स्वभावतः शुद्धाः | २४७ |
| मन्त्राधाराधकस्याथ | २९० |
| महासाहससंयोग | ३९४ |
| मातृमानप्रमेयाख्यं | ३३४ |
| मातृसद्भावसंज्ञास्याः | २०६ |
| मार्गोऽत्र मोक्षोपायः स | १६ |
| मार्गे चेतः स्थिरीभूतं | १५ |
| मिथुनत्वे स्थिते ये च | १३७ |
| मुद्रा छुम्मेति तेषां च | २९७ |
| मोक्षोऽपि वैष्णवादेर्यः | ३० |
| मृतदेहेऽथ देहोत्थे | २६५ |
| यं कंचित्परमेशान | २३३ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| यः प्रकाशः स्वतन्त्रोऽयं | ३३० |
| यतः प्रकाशाच्चिन्मात्रात् | ३१५ |
| यत्तदव्यक्तलिङ्गं नृ- | ४२२ |
| यतोऽनुत्तरनाथस्य | ३७२ |
| यतो यद्यपि देवेन | २८१ |
| यथा पुरःस्थे मुकुरे | २३६ |
| यथा योनिश्च लिङ्गं च | १४० |
| यथा हि खङ्गपाशादेः | ३७६ |
| यथा हि तत्र तत्राश्वः | २३५ |
| यथा ह्यभेदात्पूर्णेऽपि | २२९ |
| यदनाहतसंवित्ति | ३५५ |
| यदा तु ज्ञेयतादात्म्य | ९९ |
| यदेव स्वेच्छया सृष्टि- | २२८ |
| यस्तु रूढोऽपि तत्रोद्यत् | ४३ |
| यस्तु संपूर्णहृदयो .... | २३० |
| या तत्र सम्यग्विश्रान्तिः | ३५६ |
| युक्तिश्चात्रास्ति वाक्येषु | २६४ |
| युगक्रमेण कूर्माद्या | २९६ |
| ये चक्षुर्मण्डले श्वेते | १३६ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| योगाङ्गता यमादेस्तु | १०२ |
| योगिनं प्रति सा चास्ति | २४९ |
| योगिनीहृदयं लिङ्गम् | ४३० |
| योगी विशेत्तदा तत्तत् | ४१९ |
| योज्यते ब्रह्मसद्भाम्नि | १२२ |
| यो ह्यखण्डितसद्भावम् | ३०४ |
| रागतत्त्वं तयोक्तं यत् | १७ |
| रागशब्देन च प्रोक्तं | २९ |
| रोधनाद्द्रावणाद्रूप | १७२ |
| लङ्घनेन परो योगी | ४७० |
| लोकसंरक्षणार्थं तु | २६९ |
| वक्रमन्तस्तया सम्यक् | ३८४ |
| वर्णशब्देन नीलादि | ४६२ |
| वाच्याभावादुदासीन- | ४५५ |
| वामेश्वरीतिशब्देन | २०६ |
| वायुतो वारिणो वायोः | २४६ |
| विकल्प्यं शून्यरूपे न | ३२६ |
| विकल्पः कस्यचि-त्स्वात्म | ३११ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| विकल्पः संस्कृतः सूते | ३ |
| विकल्पो नाम चिन्मात्र | ३१२ |
| विकल्पस्यैव संस्कारे | ३१० |
| विकाससंकोचमयं | ३६२ |
| वित्प्राणगुणदेहान्त | ३७५ |
| विधिं प्रोक्तं सदा कुर्वन् | ६९ |
| विधिवाक्यान्तरे गच्छन् | २६२ |
| विनैव तन्मुखोऽन्यो वा | ११५ |
| विलापनात्मिकां तां च | ११७ |
| विलापितेऽपि भावौघे | १६९ |
| विविक्षोः पूर्णतास्पर्शात् | ४११ |
| विशुद्धं निजचैतन्यं | ३१९ |
| विशुद्धचित्तमात्रं वा | ३१ |
| विशेषस्पन्दरूपं तत् | ४२५ |
| विश्वात्मनो हि नाथस्य | ३०१ |
| विषं न मुह्यते तेन | २४३ |
| विसर्गे परबोधेन | २१९ |
| विसर्गस्तत्र विश्राम्येत् | ३६१ |
| विसृज्यते हि तत्तस्मात् | २१७ |
| विसृष्टं चेद्भवेत्सर्वं | ३७१ |
| विहितं सर्वमेवात्र | १११ |
| वीर्यं विना यथा षण्ढ | ४७० |
| वेदनात्मकतामेत्य | २२० |
| वेदसांख्यपुराणज्ञाः | २८ |
| वैदिक्या बाधितेयं चेत् | २५३ |
| वैश्वरूप्येण पूर्णत्वं | २९१ |
| वैष्णवं ब्रह्मसंभूतेः | २७६ |
| वैष्णवाद्येषु रज्येत | २४ |
| व्यक्तात्सिद्धिमसवो | ४२६ |
| व्योमभिर्निःसरत्येव | ३३७ |
| शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं | ३४७ |
| शक्तिपातस्तु तत्रैष | ४० |
| शरीरस्याक्षविषयैः | ३२९ |
| शाक्ते क्षोभे कुलावेशे | ३७७ |
| शास्त्रवित्स गुरुः शास्त्रे | ५५ |
| शिवात्मत्वापरिज्ञानं | २४८ |
| शुद्धविद्यात्मकं सर्वं | ११६ |
| शुद्धविद्या हि तत्रास्ति | ४९ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| शुद्धसंविन्मयी प्राच्ये | १३५ |
| शुभाशुभतया सोऽयं | १७० |
| श्रयेद्भ्रूबिन्दुनादान्त | ३६० |
| श्रयेद्द्विकासससंकोच | ३६२ |
| श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं | १४ |
| श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं | ३९ |
| श्रीमद्वाजसनेये श्री | ६१ |
| श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं | ९५ |
| श्रीमहेश्वरनाथेन | ४०८ |
| श्रीसंततिरुयम्बकाख्या | २९६ |
| षट्प्राणोच्चारजं रूपं | ३५७ |
| षोडशद्वादशाराभ्यां | १४५ |
| स एव परमादित्यः | १७९ |
| स एवांशक इत्युक्तः | २२ |
| संकेतानादरे शब्द | १०९ |
| संकोचतारतम्येन | २८२ |
| संजीवन्यमृतं बोध | ३६९ |
| संवित्तादात्म्यमापन्नं | २६५ |
| संविदन् घूर्णते घूर्णिः | ४१४ |
| संविन्नाथस्य महतो | ३४६ |
| संसाराकृप्तिकृप्तिभ्यां | १८० |
| संसारिणोऽनुगृह्णाति | ६२ |
| संहारबीजं खं हृत्स्थ | ४६० |
| संहार्योपाधिरेतस्याः | १६८ |
| संहृत्य शङ्कां शङ्क्यार्थ | १६६ |
| सकृद्यस्य तु संश्रुत्या | १४६ |
| स च सांसिद्धिकः शास्त्रे | ४४ |
| स चैष परमेशान- | ५० |
| सत्यतस्तदभिन्नं स्यात् | ३२१ |
| सत्येवात्मनि चित्स्वभाव-महसि | ४३६ |
| सदोदितः स एवोक्तः | २११ |
| सन्नप्यशेषपाशौघ- | ७६ |
| सपरिग्रहता वापि | २४१ |
| समानभूमिमागत्य | ३४९ |
| सर्वगोंशगतः सोऽपि | ५१ |
| सर्वज्ञानोत्तरादौ च | २७५ |
| सर्वेषां वाहको जीवो | २६६ |
| सस्फुरत्वप्रसिद्ध्यर्थं | ६७ |

| श्लो० | पृ० सं० |
|---|---|
| सहस्रारं भवेच्चक्रं | १४३ |
| सा च मातरि विज्ञाने | १२७ |
| साधकस्य न चेत्सिद्धिः | ६७ |
| सितभस्मनि देहस्य | ११९ |
| सिद्धान्ते लिङ्गपूजोक्ता | २८५ |
| सिद्ध्यङ्गमिति मोक्षाय | २२ |
| सुखसीत्कारसत्सम्यक् | ४५६ |
| सूर्य एव हि सोमात्मा | १२५ |
| सूर्येणाभासयेद्भावं | ३६८ |
| सैवाशुद्धिः पराख्याता | १२१ |
| सोऽपि कल्पितवृत्तित्वात् | १८२ |
| सोऽपि सत्तर्कयोगेन | ३९ |
| सोमः स्रवति यावच्च | १४५ |
| सोमसूर्यकलाजाल | ३८० |
| सोमसूर्याग्निभासात्म | ३३८ |
| सोमसूर्याग्निसंघट्टं | ३३२ |
| सौत्रामण्यां सुरा होतुः | २७२ |
| स्थितिरेषैव भावस्य | १५९ |
| स्थूलः सूक्ष्मः परो हृद्यः | ४०८ |
| स्नानशुद्ध्यर्चनाहोम | ११८ |
| स्मृतिः स्वरूपजनिका | ४५२ |
| स्मृतिश्च स्मरणं पूर्वं | ४५० |
| स्मृते प्रोच्चारित वापि | ४४६ |
| स्वतन्त्रविमलानन्त- | १२३ |
| स्वबलाक्रमणाद्देह- | ४१२ |
| स्वयंभासात्मनानेन | ४६४ |
| स्वरूपप्रत्यये रूढा | ३१७ |
| स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः | ४५२ |
| स्वातन्त्र्याद्वर्तमानैव | १२४ |
| स्वात्मनो भेदनं क्षेपो | २०३ |
| स्वात्मोच्छलत्तया भ्राम्यत् | ३४२ |
| स्वार्थप्रत्यायनं चास्य | २६४ |
| हानादानतिरस्कार | ३८२ |
| हृत्कण्ठ्योष्ठ्यत्रिधामान्तर् | ४५६ |
| हृदयाख्ये महाकुण्डे | ३३३ |
| हृदये तन्मयो लक्ष्यं | ४६२ |


इति चतुर्थपञ्चमाह्निकयोः प्रथमपरिशिष्टं समाप्तम् ॥

## ४–५ माह्निकयोः प्रमाणपद्यानां सूची ।

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| अंशकं षड्विधं देवि | २२ | स्वच्छन्दः |
| अकृतार्थो नरस्तावत् | १४७ | .... |
| अतः परं भवेन्माया | ४२ | स्वच्छन्दः |
| अथ ब्रह्म परं शुद्धं | २०० | आगमः |
| अदीक्षितानां पुरतः | ७७ | .... |
| अदृष्टमण्डलोऽप्येवं | ५८ | परात्रीशिका |
| अधर्मं धर्ममिति या | १७० | भगवद्गीता |
| अधुना श्रोतुमिच्छामि | ४४९ | त्रि० भै० |
| अनधिगतविषयं | ८९ | .... |
| अनया शोध्यमानस्य | ४१८ | मालिनीविजयः |
| अनादिमाति संसारे | ६२ | श्रीसर्ववीरः |
| अनेन लक्षयेद्योगी | १११ | मा० वि० |
| अन्तः कौलो बहिःशैवः | २७–२७८ | .... |
| अन्तः संविदि यन्निरूढ | १०४ | .... |
| अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः | ४३५ | .... |
| अन्धात्तैमिरिको वरः | ३५ | .... |
| अम्बुवाहा वहेद्वामा | १४८ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| अव्ययमकुलममेयं | १८५ | .... |
| अशुद्धं नास्ति तत्किंचित् | १२१–२६८ | वीरावलिः |
| अशून्यं शून्यमित्युक्तं | ३५० | स्वच्छन्दः |
| अष्टाश्रिर्यूपो भवति | २५५ | .... |
| अस्तोदितद्वादशभानु | १८१ | श्रीक्रमस्तोत्रम् |
| अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि | २१८ | .... |
| अहमेव परो हंसः | ५९ | .... |
| आ कण्ठतः पिबेन्मद्यं | २७८ | .... |
| आत्मानमत एवायं | ४६४ | ई० प्रत्यभिज्ञा |
| आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यः | ३२ | श्रुतिः |
| आनन्दस्यन्दि यद्गीतं | ४३० | .... |
| आनन्दो ब्रह्मणो रूपं | १५० | .... |
| आप्तं तमेव भगवन्तं | २५८ | .... |
| आमूलात्किरणाभासां | ४०१ | विज्ञानभैरवः |
| इच्छैव कारणं तस्य | ६२ | .... |
| इत्यर्थवादा विधि | २६१ | वाक्यविदः |
| इदमित्यस्य विच्छिन्न | ३९२ | अ० प्र० |
| इदं सर्वमसर्वं यत् | १७३ | श्रीक्रमसद्भावः |
| इन्द्रजालमयं विश्वं | ३८० | विज्ञानभैरवः |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| इष्टेन शिवलिङ्गेन | २८६ | .... |
| उत्तानं तु करं कृत्वा | २८० | अनन्तविजयः |
| उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां | ३९७ | विज्ञानभैरवः |
| उन्मन्यनन्ता निखिला | १६७ | श्रीक्रमस्तोत्रम् |
| उपादायापि ये हेयाः | ४६ | .... |
| ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि | २५० | स्मृतिः |
| ऊर्ध्वाधोगमविक्षेप | ४०३ | त्रिशिरोभैरवः |
| ऊहोऽन्तरङ्गं योगस्य | १५ | .... |
| ऋतुमुनिसंख्यं रूपं | २०१ | .... |
| ऋतोज्ज्वला महादीप्ता | १८६ | श्रीपञ्चशतिकम् |
| ऋषिभिर्भक्षितं पूर्वं | २६८ | वीरावलिः |
| एकं स्वरूपरूपं | १९७ | .... |
| एकं स्वरूपरूपं हि | १२८ | .... |
| एकमेवाद्वितीयं | ३१ | श्रुतिः |
| एकस्यार्थस्वभावस्य | ९० | .... |
| एकाकिनी चैकवीरा | १८१ | पञ्चशतिकम् |
| एकैकापि च चिद्वृत्तिः | ३४१ | .... |
| एतन्नायोगिनीजातो | ३८२ | प० त्री० |
| एवमेषां स्वरूपांश | ४६६ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| एषा तु कौलिकी विद्या | २०७ | निशाटनम् |
| ओं तत्सदिति निर्देशो | ४५८ | भगवद्गीता |
| ओमित्येषा कुलेशानी | १६९ | पञ्चशतिकम् |
| कथा जपः | २२७ | शिवसूत्रम् |
| कथितं गोपितं तेभ्यः | ७३ | सिद्धामतम् |
| कलातत्त्वपवित्राणु | २८८ | .... |
| कालक्रमाक्रान्तदिने | १८३ | क्रमस्तोत्रम् |
| कालस्य कालिदेहं | १९८ | .... |
| कालानलाद्व्योम | २२३ | क्रमस्तोत्रम् |
| कालोत्थिता महादेव | १९० | क्रमसद्भावः |
| कुलमुत्पत्तिगोचरम् | ६४ | .... |
| कुहनेन प्रयोगेन | ३७९ | विज्ञानभैरवः |
| कौलार्णवानन्दघनोर्मि | १५८ | क्रमस्तोत्रम् |
| क्रमकुलचतुष्टय | १९५ | .... |
| क्रमत्रयत्वाष्टमरीचि | १८८ | क्रमस्तोत्रम् |
| क्रियादिभेदभेदेन | २७९ | .... |
| क्षेत्रोपक्षेत्रसंदोहा | २९१ | .... |
| खं हि यद्भैरवं ज्ञेयं | ४०० | त्रिशिरोभैरवः |
| खयात्मा केवलं विघात् | ४०५ | त्रिशिरोभैरवः |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| गमागमस्थगम्यस्था | १७३ | क्रमसद्भावः |
| गुरुदेवाभिशास्त्रस्य | १८ | .... |
| गुरुशास्त्रानपेक्षं च | ४८ | .... |
| गोदोहनेन पशुकामस्य | २५५ | .... |
| ग्राह्यग्राहकभावो हि | २४० | विज्ञानभैरवः |
| ग्राह्यं च ग्राहकं चैव | ४४० | त्रि० भै० |
| ग्राह्यस्वरूपविज्ञानं | ४४० | त्रि० भै० |
| चक्राधाराटव्यां | ३८७ | .... |
| चण्डकाली शुद्धवर्णा | १६६ | पञ्चशतिकम् |
| चमसेनापः प्रणयेत् | २५८ | श्रुतिः |
| चलित्वा यास्यते कुत्र | ३८७ | स्वच्छन्दः |
| चितिः प्रत्यवमर्शात्मा | २१२ | ई० प्रत्यभिज्ञा |
| चित्तभेदान्मनुष्याणां | ५५ | .... |
| चोदनेति क्रियायाः | २५० | पूर्वमीमांसा |
| जटाभस्मादिचिह्नं च | २८८ | .... |
| जटी मुण्डी शिखी | २८७ | .... |
| जलस्येवोर्मयो रश्मेः | ३७९ | विज्ञानभैरवः |
| जुहोति जपति प्रेद्धे | ७१ | .... |
| ज्ञात्वा समरसं सर्वं | २७० | वीरावली |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| डकला भीषणा रौद्रा | १८९ | पञ्चशतिकम् |
| तच्च यस्य यथैव स्यात् | ११४ | मालिनीविजयः |
| तत एव सकलसिद्धि | ४४९ | ई० प्र० वि० |
| ततः सर्गो बुद्बुदत्वेन | ३२ | .... |
| ततो मूले उत्तरतो | २८० | त्रिशिरोभैरवः |
| तत्तद्रूपतया ज्ञानं | ३९० | कालिकाक्रमः |
| तत्र द्वारपतीनिष्ट्वा | २७९ | श्रीपूर्वशास्त्रम् |
| तत्र प्रत्ययैकतानता | १०० | योगसूत्रम् |
| तदेव परमं ज्ञानं | १४ | .... |
| तदेवार्थमात्रनिर्भासं | १०१ | योगसूत्रम् |
| तमाराध्य ततस्तुष्टात् | ७६ | मालिनीविजयः |
| तस्य देवातिदेवस्य | १८७–३८७ | कालिकाक्रमः |
| तस्यां निर्विकल्पदशायां | ३२४ | .... |
| ता एताश्चतस्रः शक्तयः | १३४ | ... |
| तार्किकं न गुरुं कुर्यात् | १८ | .... |
| तार्किके वधबन्धनम् | १९ | .... |
| तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि | २१८ | परात्रीशिका |
| तैजसानां मणीनां च | २४४ | स्मृतिः |
| त्रयमन्तरङ्गं | १०१ | यो० सूत्रम् |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| त्रिकोणमण्डलं पूज्यं | ४३० | .... |
| त्रिकोणे देवताः सर्वाः | ४३१ | .... |
| त्रितयभोक्ता वीरेशः | ३६४ | शिवसूत्रम् |
| त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं | ८४ | निशाटनम् |
| दशसप्तविसर्गस्था | १८७ | पञ्चशतिकम् |
| दशावस्थाश्विनोत्यन्तः | ४१५ | .... |
| दीपादीपमिवोदितम् | २३४ | .... |
| दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो | ३३ | .... |
| दृष्टमपि अविमृष्टमदृष्टमेव | ३२९ | .... |
| देवीपञ्चशताशय | १९४ | .... |
| देशबन्धश्चित्तस्य | १०० | यो० सूत्रम् |
| द्वादशारं महाचक्रं | १६१ | सार्धशतिकम् |
| द्वादशाराावियोगेन | १८८ | आगमः |
| द्वादशैव स्वराः प्रोक्ता | १५६ | .... |
| द्विजमाद्यमजीवकम् | ४४६ | मालिनी वि० |
| नक्तं महाभूतलये श्मशाने | १८९ | क्रमस्तोत्रम् |
| न क्वापि गत्वा हित्वा वा | २८७ | उत्पलस्तो० |
| नच युक्तं स्मृतेर्भेदे | ४५४ | ईश्वरप्र० |
| न चर्या भोगतः प्रोक्ता | २६९ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| नचाधिकारिता दीक्षां | ४७ | मा० वि० |
| न चापि तत्परित्यागो | ११२ | मालिनी वि० |
| नचैषा चक्षुषा ग्राह्या | १६० | पञ्चशतिकम् |
| नदते दशधा सा तु | ४१० | .... |
| न पुंभिरार्षवाक्यं च | २७६ | सर्वज्ञानोत्तरम् |
| न मे प्रियश्चतुर्वेदः | २३४ | .... |
| न पुंसि न परे तत्त्वे | ४२५ | .... |
| न व्रजेन्न विशेच्छक्तिः | ३३३ | वि० भै० |
| नातः किंचिदपास्यं | २९१ | .... |
| नातिरहस्यमेकत्र | ४४३ | तत्त्वसारः |
| नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा | २३२ | .... |
| नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं | २५१ | सर्वज्ञानोत्तरं |
| नापनेयमतः किञ्चित् | ९ | .... |
| नार्थवादः शिवागमः | २५७ | .... |
| नावश्यं कारणानि | ६६ | .... |
| नास्योच्चारयिता कश्चित् | २११-४४४ | स्वच्छन्दः |
| नाहं प्राणो नैव शरीरं | ३२० | हरिमीडेस्तो० |
| निराधारं भवेज्ज्ञानं | ३७९ | विज्ञानभै० |
| नैवाधिकपरिच्छेदः | ९० | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| परतरतयादिरूपं | १३१ | श्रीतपस्वी० |
| परमात्मस्वरूपं तु | ४०० | नेत्रतन्त्रम् |
| परमात्मा शिवो हंसः | १४७ | .... |
| परमार्थविकल्पेऽपि | ७ | .... |
| परेह शिवसमता | ८१ | भेदेश्वरवादः |
| पादोऽस्य विश्वा भूतानि | ३२ | श्रुतिः |
| पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा | २८३ | .... |
| पीत्वा कुलामृतं दिव्यं | ३९७ | .... |
| पुमान् स्त्रिया | ३६३ | पाणि० सू० |
| पुरुषे षोडशकले | ३७० | .... |
| पूजा नाम न पुष्पाद्यैः | १२४ | विज्ञानभै० |
| पूर्वैर्निरोधः कथितो | २८९ | .... |
| पृथक् पृथक् स्वकार्यस्था | १३२ | आगमः |
| पृथिव्यादीनि तत्त्वानि | ३७२ | पराञ्त्रीशिका |
| पौरुषं चैव सांख्यानां | २३ | आगमः |
| प्रकल्प्यापवादविषयं | २५४ | चूर्णिकाकारः |
| प्रकृतमहानयशिष्याः | १९९ | .... |
| प्रजापतिना चत्वारो | २७६ | श्रुति० |
| प्रतिभातोऽप्यर्थः | २१७ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| प्रतिमापूजनाद्भुक्तिः | ४२६ | .... |
| प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः | १०९ | .... |
| प्रबुध्यन्ते मन्त्रत्वाय | ३६ | .... |
| प्रभास्वरमिदं चित्तं | ३३ | विज्ञानवादिनः |
| प्राक्संवित् प्राणेपरि | ३१४–३५० | .... |
| प्राणापानौ समौ यस्य | ४०३ | त्रिशिरोभै० |
| प्राणायामस्तथा ध्यानं | १५ | .... |
| प्राणोऽपानः समानश्च | ३२७ | स्वच्छन्दः |
| बर्हिषि यो रजतं | २६१ | श्रुतिः |
| बर्हिषि रजतं | २६१ | श्रुतिः |
| बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य | ४७ | .... |
| बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा | ४३८ | भ० गीता० |
| बुद्धौ प्राणे तथा देहे | ३१९ | .... |
| बोधिः प्रभुस्तथा योगी | २९६ | .... |
| ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या | २७२ | मनुः |
| ब्राह्मणो न हन्तव्यः | २७४ | श्रुतिः |
| ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत | २७४ | श्रुतिः |
| भावा भान्तीति संवित्ता | १३० | .... |
| भावितः सुप्रसन्नात्मा | ६६ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| भासयेच्च स्वकालेऽर्था | ४५३ | ईश्वरप्र० |
| भुजङ्गवद्गरलसंक्रामः | २३४ | .... |
| भैरवरूपी कालः | १४२-१८२-१९८ | .... |
| भैरवास्त्रं समुच्चार्य | २८० | स्वच्छन्दः |
| भोगसाधनसंसिद्ध्यै | १४० | मालिनीवि० |
| भ्रियात्सर्वं रवयति | ४४८ | विज्ञानभै० |
| मन्त्रोदया व्योमरूपा | १५८ | पञ्चशतिकम् |
| ममेत्यहंकारकला | १६९ | क्रमस्तोत्रम् |
| मलः कर्म निमित्तं तु | ४१६ | स्वच्छन्दः |
| महाविनोदार्पितमातृ | १६० | क्रमस्तोत्रम् |
| मा किंचित्त्यज | ३८३ | अनुत्तराष्टकं |
| मार्तण्डमापीतपतङ्ग | १७८ | क्रमस्तोत्रम् |
| मुहूर्तादेव तत्रस्थः | १४ | .... |
| मृच्छैलधातुरत्नादि | २५७-४२९ | मा० वि० |
| मृत्युं च कालं च कला | २८४ | भर्गशिखा |
| मेयं साधारणं मुक्तः | २५० | ईश्वर प्र० |
| यः पुनः सर्वतत्त्वानि | २४९ | ... |
| यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं | २८६ | .... |
| यत्ते कुर्युर्न त् | २७० | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| यत्र यत्र मनो याति | १०० | .... |
| यत्र यत्र मिलिता मरी | २८८ | .... |
| यत्र रूढिः प्रजायेत | ३९ | .... |
| यत्र सर्वे लयं यान्ति | ४४३ | वीरावलिः |
| यत्रापि स्यात्परिच्छेदः | ९० | .... |
| यत्सृष्टिस्थितिसंहार | १९१ | आगमः |
| यथा तथा यत्र तत्र | ३७८ | विज्ञानभैरवः |
| यथा दण्डाहतः सर्पः | ३५८ | .... |
| यदि मुक्तिर्जलस्नानात् | १२० | .... |
| यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टं | २६९ | .... |
| यद्वा स्वरूपपरतां | २६२ | वाक्यविदः |
| यद्यप्यर्थस्थितिः प्राण | ३१६ | अजडप्रमातृसिद्धिः |
| यन्निरावरणं संवित् | ३९६ | त्रिशिरो भै० |
| यमरूपस्वरूपस्था | १६५ | पञ्चशतिकम् |
| यस्मान्महेश्वरः साक्षात् | ७८ | .... |
| यस्मिन्यस्मिंश्चक्रवरे | २१० | .... |
| यस्यां यस्यां बोधभूमौ | १२८ | .... |
| यस्याः सदा खेचरदृष्टि | १९६ | .... |
| या सा जगद्ध्वंसयते समग्रं | २०२ | क्रमस्तोत्रम् |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| ये तु वर्णाश्रमाचाराः | २७७ | सर्वज्ञानोत्तरम् |
| येन ध्वस्तः समस्तो | १९७ | सोमराजः |
| येन येन निबध्यन्ते | ३३८ | .... |
| यो जल्पः स जपः | २२७ | .... |
| योऽयं वह्निः परं तत्त्वं | १२६ | .... |
| यो यस्य गुर्वादेशः | २०३ | जयरथपरमगुरवः |
| यो हि बाधयते पापः | २७७ | सर्वज्ञानोत्तरम् |
| यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः | ४६९ | मालिनीवि० |
| रासभ्या मूत्रकाले तु | १६५ | .... |
| रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य | २२ | .... |
| रुद्रो रुरोद | २६२ | श्रुतिः |
| रूपादिपञ्चवर्गोऽयं | १५९-२४४ | .... |
| लब्धभूमेर्विरक्तस्य | ९३ | .... |
| लिङ्गपूजादिकं नच | ११२ | मालिनीविजयोत्तरम् |
| लिङ्गशब्देन विद्वांसः | १४१-४२३ | .... |
| लिङ्गे परमशिवान्तां | २८५ | .... |
| लेहनामन्थनाकोटैः | ३७८ | विज्ञानभै० |
| वन्दे ध्वस्तसमस्तभाव | १९६ | .... |
| वरदा विश्वरूपा च | १८३ | पञ्चशतिकम् |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| वर्त्तमानावभासानां | ३२३ | ईश्वरप्रत्यभिज्ञा |
| वस्तुनिर्णयशून्याभिः | १९ | .... |
| वाजपेयस्य चतुरश्रः | २५५ | श्रुतिः |
| वाजिद्वयस्त्रीकृतवात | १६३ | क्रमस्तोत्रम् |
| वामजङ्घान्वितो जीवः | ४४६ | पूर्वशास्त्रम् |
| वामा संसारवमनात् | २५ | .... |
| विकल्पयोनयः शब्दाः | ४६५ | .... |
| विज्ञानमानन्दं | ३२ | श्रुतिः |
| विधिवाक्यमिदं तन्त्रं | २५७ | .... |
| विधिशक्तिरवसीदति | २५६ | पू० मीमांसा |
| विमर्शधाम तुर्यं च | ४०१ | त्रिशिरोभै० |
| विश्वं महाकल्पविराम | १७३ | क्रमस्तोत्रम् |
| विषयेष्वेव संलीनान् | २७ | मालिनीवि० |
| वेदवर्त्मानुवर्ती च | २९२ | .... |
| वेदाच्छैवं ततो वामं | ५६ | .... |
| व्रतिनो जटिनो मुण्डाः | २८८ | .... |
| शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव | ३४७-३७४ | श्रीमङ्गला |
| शक्तिसंगमसंक्षुब्ध | ३७८ | विज्ञानभै० |
| शङ्कया विघ्नभाजनम् | १६४ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| शब्दब्रह्मपदातीता | १७८ | पञ्चशतिकम् |
| शशिभास्करसंयोगात् | ९६ | वीरावलिः |
| शश्वद्विश्वमनश्वर | २३३ | जयरथगुरुः |
| शास्त्रहीने न सिद्धिः स्यात् | ४८ | .... |
| शिवनभसि विगलिताक्षः | २२२ | .... |
| शिशुनाक्षिप्तमकामात् | २९५ | .... |
| शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः | ३८१ | .... |
| शून्यमेवंविधं ज्ञेयं | ४६ | किरणा |
| शौचसंतोषतपः | ९४ | पा० सूत्रम् |
| श्रीकेयूरवतीतः | १९९ | .... |
| श्रीक्रमसद्भावादिक | १९१ | .... |
| श्रीभूतिराजनामा | १९३ | .... |
| श्रीमत्सदाशिवपदेऽपि | १९३ | .... |
| श्रीमद्रामनभानुः | १९६ | सोमराजः |
| श्रीवीरनाथपादैः | १९६ | .... |
| षट्शतानि वरारोहे | ३९२ | विज्ञानभै० |
| षोडशातः समासेन | १३६ | योगसंचरः |
| संवित्तिफलभेदोऽत्र | ४६८ | मालिनीवि० |
| संविन्निष्ठा हि विषय | २१६ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| संशयानो न सिद्ध्यति | ६७ | ब्रह्मयामलम् |
| संसारोऽस्ति न तत्त्वतः | ९९ | अभिनवगुप्तः |
| संहितापारगस्येह | ७७ | .... |
| सकृद्विभातोऽयमात्मा | २०८ | श्रुतिः |
| सत्यमेतन्महाप्राज्ञ | ९७ | वीरावलिः |
| सदसद्विभेदसूतेः | २०० | हस्तनयः |
| सद्भावः परमो ह्येष | २०६ | मालिनीवि० |
| सप्तेन्द्रियशिखाजाल | २३३ | .... |
| समता सर्वभावानां | ३०४ | .... |
| समनान्तं वरारोहे | ३६० | स्वच्छन्दः |
| समुदायवृत्ताः शब्दा | ३४० | .... |
| सर्वं खल्विदं ब्रह्म | १२१ | श्रुतिः |
| सर्वज्ञः सर्वकर्ता च | ३७९ | विज्ञानभै० |
| सर्वत्राभासभेदो हि | २१० | ईश्वरप्र० |
| सर्वभावमयभावमण्डलं | ३७१ | जयरथगुरुः |
| सर्वलक्षणहीनोऽपि | ६७ | .... |
| सर्वसंहारसंहार | २२१ | .... |
| सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य | १६५ | क्रमस्तोत्रम् |
| सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्था | ४५१ | .... |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| सर्वो ममायं विभव | १८४ | ईश्वरप्र० |
| सर्वो विकल्पः संसारः | ११७ | .... |
| साक्षं सर्वमिदं देहं | ३३० | .... |
| सांख्यवेदपुराणज्ञा | ४३ | स्वच्छन्दः |
| सापेक्षत्वेऽप्यपेक्षैव | २८१ | .... |
| सामानाधिकरण्यं हि | १५१ | ईश्वरप्र० |
| सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं | २१९ | मालिनीवि० |
| सा स्फुरत्ता महासत्ता | ४५४ | ईश्वरप्रत्यभि० |
| सुरा न पेया | २७८ | श्रुतिः |
| सुराया अवघ्राणः | २७२ | श्रुतिः |
| सृष्टिकाली च संहारे | १८९ | तन्त्रराजः |
| सेयं क्रियात्मिका शक्तिः | ३३८ | स्पन्दः |
| सोमार्कानलदीप्तीनां | १२८ | .... |
| सोऽरोदीद्यदरोदी० | २६१ | श्रुतिः |
| सोऽहं ममायं विभवः | ४४० | ई० प्र० |
| स्थान्युपनिमन्त्रणे | २३ | योगसूत्रम् |
| स्मरणादभिलापेण | ४५० | .... |
| स्रजं विमोचयेन्नाम | २९५ | .... |
| स्वभावमवभासस्य | २१५ | ईश्वरप्र० |

| श्लोकाः | पृ० सं० | ग्रन्थांकः |
|---|---|---|
| स्वमन्त्ररक्षणं यत्नात् | ७४ | सिद्धामतम् |
| स्वयं गृहीतमन्त्राश्च | ७१ | .... |
| स्वरूपस्थितिसंयोग | ४०४ | त्रिशिरोभै० |
| स्वविषयासंप्रयोगे | ९९ | योगसूत्रम् |
| स्वशक्तिप्रचयो | ३६४ | शिवसूत्रम् |
| स्वसिद्धान्ताविरुद्धेन | १६ | .... |
| स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य | ४१६ | ईश्वरप्र० |
| स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णो | ३५४ | ईश्वरप्र० |
| हासिनी पौद्गली येयं | १६३ | पञ्चशतिकम् |
| हृदयगुहागेहगतं | २८६ | .... |
| हृदयं बोधपर्यायः | २१३ | .... |
| हृदि ध्येयो मनीषिणाम् | ३३१ | .... |
| हेतुफले संसारः | ३३ | .... |
| हेतुशास्त्रं च यल्लोके | १८ | .... |


४–५ माह्निकयोः प्रमाणपद्यानां सूची समाप्ता ॥

## ४–५ माह्निकयोः शुद्धाशुद्धपाठपत्रम्

| पृ. सं. | पं. सं. | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ८ | ७ | प्रसज्येत् | प्रसज्येत |
| १० | १४ | अनावृत्ते | अनावृते |
| २० | १५ | बाधमे | वाधमे |
| ५० | १ | पूव | पूर्व |
| ५७ | १७ | श्रीत्रिंशिका | श्रीत्रिशका |
| ७२ | ६ | लशणः | लक्षणः |
| ७४ | ५ | मन्त्रणां | मन्त्राणां |
| ७७ | २ | इतितरां | इत्यतितरां |
| ८५ | ११ | छेद् | च्छेद् |
| ९१ | ९ | अनुलङ्घ | अनुल्लङ्घ |
| ९५ | ३ | येषां | एषां |
| १०१ | ३ | शून्व | शून्य |
| १०९ | ? | स्वप्न | स्वप्न |
| ११० | ६ | उक्तोद्धे | उक्ताद्धे |
| २२२ | ३ | नादत्या | नददित्या |
| २३३ | ९ | मेय | मेध |
| २३६ | ७ | द्वेतं | द्वैतं |
| २३७ | १४ | प्रात्था | प्राप्त्या |
| २३८ | १ | नैराक | नैराका |
| ३०० | १ | सगत्या | संगत्या |
| ३४९ | १६ | भावयत् | भावयेत् |
| ३७५ | ११ | तनार | तार |
| ४२१ | ८ | मन्त्रै | मत्त्रै |

---

अथ

# श्रीतन्त्रालोके ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीराजानकजयरथाचार्यकृतोद्योताभिख्यविवरणोपेते

## चतुर्थमाह्निकम् ।

यो दुर्विकल्पविघ्नविध्वंसे सद्विकल्पगणपतिताम् ।
वहति जयताज्जयन्तः स परं परमन्त्रवीर्यात्मा ॥

इदानीं शांभवोपायानन्तरं क्रमप्राप्तं शाक्तोपायं कथयितुमपरार्धेन प्रतिजानीते

अथ शाक्तमुपायमण्डलं
कथयामः परमात्मसंविदे ॥ १ ॥

'उपायमण्डलम्' इति विकल्पसंस्क्रियादीनामानैक्यात् ॥ १ ॥

तत्र प्रथममनुजोद्देशोद्दिष्टां विकल्पसंस्क्रियां तावदभिधातुमुपक्रमते

अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मि-
न्स्वभावे पारमेश्वरे ।
प्रविविक्षुर्विकल्पस्य
कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ॥ २ ॥

'अस्मिन्स्वभाव' इति निर्विकल्पैकरूपे, तेनास्य शांभवोपाय एव विश्रान्तिः, इत्यावेदितम् । संस्कारमिति—पौनःपुन्येन श्रुतचिन्तादिवशात् अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वाद्यापत्तिपर्यन्तं गुणान्तराधानं, येन निर्विकल्पस्वरूपानुप्रवेशो भवेत् । अञ्जसेति शीघ्रम्, अन्यथा हि विरुद्धविकल्पान्तरोत्पादात् संस्कारस्य प्ररोहो न स्यात् ॥ २ ॥

ननु ज्ञानस्य क्षणिकत्वे सर्वेषामविवादः—तद्विकल्पस्यापि ज्ञानरूपत्वेन क्षणिकत्वात्, उत्पादसमनन्तरमेव अन्तर्हितस्वरूपस्य कथं

नाम संस्कारः प्ररोहमियात्, स हि स्थिरे स्यात्, यथा—तिलादौ सुमनोभिः, तत् कथमेतदुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

विकल्पः संस्कृतः सूते
　विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम्।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं
　सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम् ॥ ३ ॥

इह यथा—नीलविकल्पान्नीलविकल्पस्यैव उत्पादो, न पीतविकल्पस्य, तथैव अस्फुटत्वेऽपि स्फुटीभावाय भाव्यमानत्वात् भ्रश्यदस्फुटत्वाद्यापत्तेः आहितसंस्कारो विकल्पः स्वात्मवत् संस्कृतमेव विकल्पान्तरं जनयेत्—कारणानुरूपेणैव हि प्रायः कार्यस्योत्पादो भवेत्, इति भावः। एवं विकल्पान्तरेष्वपि ज्ञेयम्। सोऽपि इति संस्कृताद्विकल्पाज्जातो द्वितीयः, सोऽप्यन्यमिति तृतीयः, पुनः सोऽप्यन्यमिति चतुर्थः। अत्र

पं० १४ एवं विकल्पेत्यारभ्य द्वितीय इत्यन्तः पाठो ग० पुस्तकात्पूरितोऽस्ति।

स्वतुल्यत्वस्य संबन्धसहिष्णुत्वेऽपि ‘सदृशात्मकम्’ इत्युक्त्या दूरदूरत्वेऽपि विकल्पमालायाः सादृश्यस्य न काचिद्धानिः, इत्यावेदितम् ॥३॥

ननु एकस्मात् संस्कृताद्विकल्पात् यदि तादृशस्यैव द्वितीयस्योत्पादः तदास्तां, तृतीयादेः पुनरेवमेवोत्पत्तावानर्थक्यं स्यात्, विशेषे वा सादृश्यस्य हानिः? इत्याशङ्क्याह

चतुर्ष्वेव विकल्पेषु
यः संस्कारः क्रमादसौ ।
अस्फुटः स्फुटताभावी
प्रस्फुटन्स्फुटितात्मकः ॥ ४ ॥

स्फुटताभावीति स्फुटनयोग्यः, प्रस्फुटन्निति उद्गच्छत्स्फुटत्वः, स्फुटितात्मक इति सिद्धस्फुटत्वः, क्रमादिति अभ्यासातिशयतारतम्यात्, अत एव अत्र यथायथमतिशयदर्शनात् नानर्थक्यं, नापि सादृश्यस्य हानिः — विसदृशस्य

पं० २ क० ख० पु० दूरतरत्वेऽपीति पाठः ।

प्रत्ययान्तरस्यानुत्पादात्, आद्य एव हि संस्कारो यथायथमभ्यासातिशयात् प्ररोहमुपगत इत्येवमुक्तम् ॥ ४ ॥

न च इयानेव अस्य संस्कारः संभवेत्? इत्याह

ततः स्फुटतरो याव-
　　दन्ते स्फुटतमो भवेत् ।

तत इति चतुर्भ्योऽनन्तरम् ॥

ननु अभ्यासातिशयतोऽपि अस्फुटत्वादिरूपो विकल्पः कथं शीघ्रमेव स्फुटताभाव्यादिरूपतामेति? इत्याशङ्क्याह

अस्फुटादौ विकल्पे च
　　भेदोऽप्यस्त्यान्तरालिकः ॥ ५ ॥

भेद इति विशेषः, आन्तरालिक इति मध्यवर्ती, तथाहि अस्फुटस्फुटताभाविनोरन्तराले भ्रश्यदस्फुटत्वः, एवमीषत्प्रस्फुटत्वः अङ्कुरित-

---

पं० १५ एवमीषदित्यारभ्य स्फुटतरत्व इत्यन्तः पाठो ग० पुस्तकात्पूरितोऽस्ति ।

स्फुटितत्वः आसूत्रितस्फुटतरत्वः उद्गच्छत्स्फुट-
तमत्वश्चेति ॥ ५ ॥

ननु एवं-कृते सति किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

ततः स्फुटतमोदार-
 ताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमला-
 मविकल्पस्वरूपताम् ॥ ६ ॥

ततो—यथोक्तात् संस्काराद्धेतोः, स्फुटतमम्, अत एव उदारं—निर्विकल्पकसमानकक्ष्यतया महत्, यत्ताद्रूप्यं—विकल्पकत्वं तेन परिबृंहिता—संस्कारान्तरनिरपेक्षीकृता सती, विकल्परूपा संवित्, विमलां—संकोचकलङ्कापहस्तनेन शुद्धामविकल्पस्वरूपतामभ्येति—पूर्णावि-

पं० ६ क० पु० विमला सद्विकल्पेति पाठः ।

पं० ११ क० ग० पु० संस्कारान्तरनिरपेक्षा सतीति, विमला इति च पाठः ।

पं० १२ ख० पु० कलङ्कापहानेन शुद्धा सविकल्पस्वरूपतामभ्येति पूर्वाविकल्पज्ञानतयेति पाठः ।

कल्पज्ञानमयतया परिस्फुरतीत्यर्थः । अतश्च 'विकल्पमात्रे एव न विश्रान्तव्यम्' इत्यपि अनेन उक्तम्, यदाहुः

'परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः ।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाप्यथ वाशुभे ॥'

इति ॥ ६ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

अतश्च भैरवीयं यत्-
तेजः संवित्स्वभावकम् ।
भूयो भूयो विमृशतां
जायते तत्स्फुटात्मता ॥ ७ ॥

अतो — विकल्पसंविद एव तत्तत्संस्कारबलादविकल्पसंविद्रूपतया परिस्फुरणाद्धेतोः, यद्भैरवीयं ज्ञानक्रियाख्यं संवित्स्वभावं तेजः तद्रूप एव 'अहमिति' भूयो भूयः अस्फुटत्वादिक्रमेण उद्गच्छत्स्फुटतमत्वाद्यापत्तिपर्यन्तेन परामृशतां

पं० १६ ख० पु० पर्यन्तेन पौनः पुन्येनेति पाठः ।

तीव्रतीव्रशक्तिपातवतां महात्मनां, तस्य परामृ-
श्यस्य संविदात्मकस्य भैरवीयस्य तेजसः स्फु-
टात्मता जायते—शांभवावेशवशेन तत्साक्षा-
त्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु संविदः प्रमात्रेकरूपत्वात् परामर्शकत्व-
मेव युज्यते, न परामृश्यत्वं, तथात्वे हि नीला-
दिवत् अस्या जाड्यं प्रसज्येत्? इत्याशङ्कां
दर्शयति

ननु संवित्परामष्ट्री
परामर्शमयी स्वतः ।
परामृश्या कथं ताथा-
रूप्यसृष्टौ तु सा जडा ॥ ८ ॥

ताथारूप्येति परामृश्यत्वस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेव समाधत्ते

उच्यते स्वात्मसंवित्तिः
स्वभावादेव निर्भरा ।

नास्यामपास्यं नाधेयं
किंचिदित्युदितं पुरा ॥ ९ ॥

इह स्वात्मरूपा संवित् तावत् अतिरिक्तस्य अपेक्षणीयस्याभावात् स्वत एव निर्भरा नान्याकाङ्क्षेति, नित्योदितत्वात् अस्यां स्वात्मसंवित्तौ न किंचिदस्फुटत्वादि अपास्यं, नापि स्फुटतमत्वादि आधेयमिति । पुरा—अनुपायाह्निके

'अत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।'

इत्यादिनोक्तम् । यदभिप्रायेणैव अतो बाह्यैरपि

'नापनेयमतः किंचित्प्रक्षेप्तव्यं न किंचन ।
द्रष्टव्यं भूततोद्भूतं भूतदर्शी विमुच्यते ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ ९ ॥

ननु यद्येवं तत् इयान् अस्फुटत्वादिरूपः संविदः कुतस्त्योऽयं स्फारः? इत्याशङ्क्याह

किं तु दुर्घटकारित्वात्-
स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।

---

पं० ९ क० पु० इतो बाह्यैरपीति पाठः ।

स्वात्मप्रच्छादनक्रीडा-
पण्डितः परमेश्वरः ॥ १० ॥

किं पुनर्, असौ परमेश्वरः परः प्रकाशः—स्वरूपगोपनात्मकदुर्घटकारित्वलक्षणात् शुद्धात् स्वाच्छन्द्यात् हेतोः, परप्रमात्रेकस्वभावस्यापि स्वात्मनः प्रच्छादनं—ग्राह्यग्राहकाद्युल्लासात्तथात्वेनाभासनं, सैव क्रीडा—प्रतिनियतफलाननुसंधानेन प्रवृत्तिः, तत्र पण्डितः—प्रवीण इत्यर्थः। इयमेव हि तस्य स्वातन्त्र्यरूपा मायाख्या शक्तिः—यदनावृतमपि स्वं रूपमावृतत्वेनैव आभासयति, यतोऽयमियान् ग्राह्यग्राहकाद्यात्मा भेदावभासः ॥ १० ॥

तदाह

अनावृत्ते स्वरूपेऽपि
यदात्माच्छादनं विभोः।

---

पं० १० क० पु० स्वस्वरूपमिति पाठः।

सैव माया यतो भेद
एतावान्विश्ववृत्तिकः ॥ ११ ॥

एवमस्य विश्वरूपतयावभासनमेव द्वैतमुच्यते, यद्वशादयं दुरन्तः संसारबन्धः, तदपासनायैव च अयं परामर्शो – यत् संविदेव पुनः पुनः परामृश्यमाना स्फुटतामियात् इति ॥ ११ ॥

तदाह

तथाभासनमेवास्य
द्वैतमुक्तं महेशितुः ।
तद्द्वयापासनेनायं
परामर्शोऽभिधीयते ॥ १२ ॥

तद्द्वयापासनेति – कार्यकारणयोरभेदोपचारात् ॥ १२ ॥

ननु इह 'नहि भातमभातं भवति' इति सर्वेषामविवादः, देहनीलादि चेदं भेदेनावभा-

पं० ८ क० पु० तदाभासनेति पाठः ।

सते, तत् कथमुक्तं 'तदपासनेन संविद् एव अवभासो भवेत्'? इत्याशङ्कामपाकर्तुं विकल्पसंस्क्रियानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टं तर्कतत्त्वमवतारयति

दुर्भेदपादपस्यास्य
मूलं कृन्तन्ति कोविदाः ।
धारारूढेन सत्तर्क-
कुठारेणेति निश्चयः ॥ १३ ॥

बन्धैककारणत्वात् दुष्टो योऽसौ ग्राह्यग्राहकाद्यात्मा भेदः, स एव दुरुन्मूल्यत्वात् पादपः, तस्य अस्य अनुभूयमानस्य, कोविदाः प्रत्यभिज्ञातस्वात्मानः, सन्—साक्षात्तत्त्वनिष्ठः, अत एव तर्कान्तरविलक्षणो योऽसौ परां कोटिं प्राप्तस्तर्कः—शुद्धविद्यांशस्पर्शपवित्रिताया बुद्धेरुदीयमानः स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनपररूपः, स एव समुत्तेजितधारः कुठारः, तेन मूलम्—अख्या-

पं० १५ क० पु० प्रत्यभिज्ञानरूप इति पाठः ।

तिलक्षणं कारणमेव कृन्तन्ति, यथास्य* पूर्णपरसंविन्मात्रख्यातेः पुनरुत्थानमेव न भवेत्, इत्ययं निर्णयः, स एव हि महात्मनां देहाद्यालोचनेन यथायथमभ्यासातिशयात् विकल्पशुद्धिमादधानः, परां काष्ठामुपागतः सन्, भावनात्मकतां यायात्, येन अस्फुटमपि संविद्रूपं स्फुटतामासादयेत् ॥ १३ ॥

अत आह

तामेनां भावनामाहुः
सर्वकामदुघां बुधाः ।
स्फुटयेद्वस्तु यापेतं
मनोरथपदादपि ॥ १४ ॥

यस्तर्कः, तां भावनामाहुः, इति विधीयमानलिङ्गानुवेधः तर्क एव हि परां काष्ठामुपगतो भावनेत्युच्यते, तदुक्तम्

---

*अस्य पादपरूपकारणस्य, संविन्मात्रख्यातेः हेतोः इत्यन्वयः ।

---

पं० ३ क० ख० पु० देहाद्यनालोचनेनेति पाठः ।

पं० ५ ख० पु० भावनात्मिकां यां यायादिति पाठः ।

पं० ९ क० पु० तदेतां भावनामिति पाठः ।

'तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते ।'

इति । अत एव एनामित्यन्वादेशेनास्य कथनं, तस्यां च परिनिष्पन्नायामभीप्सितफलावाप्तिर्भवेत् इत्युक्तं – सर्वकामदुघामिति, तदुक्तम्

'मुहूर्तादेव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते ।
तत्रापि च सुनिष्पन्ने फलं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥'

इति । या भावनैव हि मनोरथादपि अपेतं – स्वतन्त्रविकल्पानामपि अविकल्प्यत्वादगोचरं, वस्तु – पारमार्थिकं परप्रमात्रेकलक्षणं संविद्रूपं, स्फुटयेत् – अविकल्पवृत्त्या साक्षात्कुर्यात्, यन्महिम्ना किं नाम न योगिनः सिद्ध्येत् ॥ १४ ॥

अतश्च 'इदमेव उत्तमं योगस्याङ्गम्' इत्यस्मद्दर्शने उच्यते, इत्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं
तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।
हेयाद्यालोचनात्तस्मा-
त्तत्र यत्नः प्रशस्यते ॥ १५ ॥

---

पं० १५ ख० पु० योगाङ्गतोच्यते इति पाठः ।

मार्गे चेतः स्थिरीभूतं
　　हेयेऽपि विषयेच्छया ।
प्रेर्य तेन नयेत्ताव-
　　द्यावत्पदमनामयम् ॥ १६ ॥

यद्यपि

'प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥'

इत्यादिनीत्या तर्कस्य प्राणायामादिभिर्योगाङ्गत्वे साम्यं, तथापि हेयाद्यालोचनात् असौ उत्तममन्तरङ्गं योगस्याङ्गं, तर्केण हि 'इदं हेयम्, इदमुपादेयम्' इति विचारयन् योगी झटित्येव तत्त्वज्ञो भवेत्, तदुक्तम्

'ऊहोऽन्तरङ्गं योगस्य तेन चाध्वन्यवस्थितेः ।
साधारणोऽप्यसौ मुक्तेर्भूयसोपकरोति हि ॥'

इति । तथा

---

पं० १३ क० ख० पु० तेनाध्वन्यव्यवस्थितेरिति पाठः ।

पं० १४ क० पु० असौ मुक्तो भूयसेति पाठः ।

'स्वसिद्धान्ताविरुद्धेन यस्तर्केण विचारयेत् ।
धर्मज्ञानापवर्गार्थं स तत्त्वं वेद नापरः ॥'

इति, अतश्च—अत्रैव मुख्यया वृत्त्या यतितव्यम् इत्युक्तं 'तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते' इति, तत्र हि कृतप्रयत्नो योगी सांख्यादिशास्त्रान्तरोदिते हेये मोक्षोपायलक्षणे मार्गे 'ममेदमेव आकाङ्क्षणीयं तत्त्वम्' इत्याद्यभिमानोदयात् स्थिरीभूतमपि चेतः, तेन तर्केण प्रेर्य—ततो हेयान्मार्गात् पराङ्मुखीकृत्य, तावन्नयेत्—उपादेये मार्गे विश्रामयेत्, यावत् पदमनामयं—सर्वोत्तीर्णपरप्रकाशात्मतया प्रस्फुरेदित्यर्थः॥१५।१६॥

अत्र च विषमत्वात् स्वयमेव पदचतुष्टयं व्याचष्टे

मार्गोऽत्र मोक्षोपायः स
हेयः शास्त्रान्तरोदितः ।

पं० ८ क० पु० प्रेर्यतया हेयस्वं तन्मार्गस्येति पाठः ।
पं० १० ख० पु० मायोत्तीर्णेति पाठः ।

विषिणोति निबध्नाति
　　येच्छा नियतिसंगतम् ॥ १७ ॥
रागतत्त्वं तयोक्तं यत्
　　तेन तत्रानुरज्यते ।

शास्त्रान्तरोदितस्य मार्गस्य हेयत्वं प्रागेवोपपादितम्, इति नेह पुनरायस्तं 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य विपूर्वस्य अचि विषयशब्दः, तेन विषयरूपा बन्धयित्री येयमिच्छा—'इदमेव मे स्यात्' इत्यादिरभिमानविशेषः, तया नियतिसंगतं रागतत्त्वमुक्तं सामान्येन, सर्वविषयमभिलाषमात्रं हि रागतत्त्वस्य रूपं, तदेव नियतविषयतयोद्यत् नियतितत्त्वस्य, इति तद्युक्तं रागतत्त्वमस्य अभिधेयम्, यत्—यस्माद्धेतोः तत्र नियतेः हेये मार्गे तेन रागेण चेतोऽनुर-

पं० २ क० पु० नियतसंगमादिति पाठः ।

पं० ३ क० पु० तथोक्तं तदिति पाठः ।

पं० ९ क० पु० नियतसंगमादिति पाठः ।

पं० १३ क० पु० तत्त्वस्याभिधेयमिति पाठः ।

ज्यते—स्थिरीभवेत् इत्यर्थः। ननु सर्वत्रैव अन्यत्र

'गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः।
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः॥
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।'

इति। तथा

'हेतुशास्त्रं च यल्लोके नित्यानित्यविडम्बकम्।
वादजल्पवितण्डाभिर्विवदन्ते ह्यनिश्चिताः॥
हेतुनिष्ठानि वाक्यानि वस्तुशून्यानि सुव्रते।
ज्ञानयोगविहीनानि देवतारहितानि तु॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु निश्चयो नैव जायते।
अज्ञानेन निबद्धानि त्वधर्मेण निमित्ततः॥
निरयं ते प्रयच्छन्ति ये तत्राभिरता जनाः।'

इत्यादिना भगवतास्य तर्कस्य निन्दां विदधता अधमत्वमवद्योतितम्, यदभिप्रायेणैव तद्वेदकस्य गुरोरपि परिहार्यत्वमुक्तम्, यदुक्तम्

'तार्किकं न गुरुं कुर्यात्............।'

---

पं० १५ क० पु० अधमत्वमेवेति, तद्वदेकस्येति च पाठः।

इति । तथा

'......................तार्किके वधबन्धनम् ।'

इति । एतदनुवेधेनैव अभियुक्तैरपि

'वस्तुनिर्णयशून्याभिर्बोधिताभिः परस्परम् ।
अभिमानैकसाराभिर्जिह्रीमस्तर्कबुद्धिभिः ॥'

इत्याद्युक्तम्, तत् कथमस्य इहोत्तमत्वमुक्तम्, एवं हि श्रुतिविरोधः स्यात्, न च उभयत्रापि एकस्यैव प्रामाण्यकारणस्य सद्भावात् एकत्रापि अप्रामाण्यमुद्भावयितुं शक्यम्, इति किमत्र प्रतिपत्तव्यम्? विषयभेदोऽत्र प्रतिपत्तव्यो, येन सर्वं स्वस्थं स्यात्, द्विविधो हि तर्कः – कश्चिद्धि वस्तुनिर्णयशून्यश्छलादिप्रधानः परपराजयमात्रपर्यवसानो जल्पप्रायः, कश्चित् हेयोपादेयविवेककारितया वस्तुनिर्णयफलः छलादिशून्यो वादप्रायः, तत्राद्यस्य वस्तुनिर्णयशून्यत्वात् गर्हणीयत्वम्, अत एव

---

पं० ३ क० पु० अनुवेधे चाभियुक्तैरिति पाठः ।

'........................... वस्तुशून्यानि.... ।'

इति । तथा

'........................... निश्चयो नैव जायते ।'

इत्याद्युक्तम्, अत एव तद्भेदकानामपि वस्तुज्ञत्वाभावात् परिहार्यत्वमभिहितम्, यस्तु हेयाद्यालोचनेन वस्तुपरिशुद्धिमादधानो हेयमपहाय उपादेये विश्रामयेत् स परमुत्तमं योगस्याङ्गम्, इति न कश्चिद्दोषः, तत् आस्माकः सत्तर्को, दर्शनान्तरीयस्त्वसत्तर्कः – इति विभागः ॥ १७ ॥

ननु स्वार्थतत्परो लोकः स्वयमेव अनपेक्षितशास्त्रो हेयमपहातुमुपादेयं च उपादातुं प्रवर्तते, नहि बुभुक्षितस्याशने मलिनस्य वा स्नाने शास्त्रमुपयुज्यते, तत्किम् अत्र तर्केण? इत्याशङ्क्याह

यथा साम्राज्यसंभोगं
दृष्टादृष्टार्थबाधमे ॥ १८ ॥

---

पं० १५ क० पु० दृष्टायोग्यमथाधमे इति पाठः ।

भोगे रज्येत दुर्बुद्धि-
स्तद्वन्मोक्षेऽपि रागतः ।

यथा खलु अज्ञः कश्चन – हेयोपादेयविवेकमजानानः, साम्राज्यसंभोगं सम्यगुपभोगयोग्यतया परिज्ञाय अपरिज्ञाय वा, अधमे – दुर्गतजनोपभोग्ये, भोगे रागतो रज्येत – चिरतरप्ररूढप्राक्संस्कारपरिपाकवशात् आसक्तो भवेत्, तथैव साक्षान्मोक्षमपहाय असन्मोक्षेऽपि, इति वाक्यार्थः, तेन हेयहानाय उपादेयोपादानाय च अवश्यं तर्कस्योपयोगः, इति युक्तमुक्तम् 'तर्को योगाङ्गमुत्तमम्' इति ॥ १८ ॥

ननु स्वभावत एवायं सर्वो जनस्तत्तद्दर्शनासक्तः स्यात् यदभिप्रायेण

---

पं० ५ ख० पु० परिज्ञाय परिज्ञाय इति, क० पु० तया परिज्ञाय अधमे भोगे रज्यते दुर्गतजनोपभोगे रागताश्चिरप्ररूढे इति एवं-विधः पाठः ।

पं० ७ क० पु० संस्कारवशादितीयान् पाठः ।

'रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य कार्याकार्यमपश्यतः ।
विलब्धा वत केनामी सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥'

इत्यादि अन्यत्रोक्तं, तत् तदुचित एव मोक्षोऽपि अस्य भवेत्, इति कोऽयं रागो नाम? इत्याशङ्क्याह

स एवांशक इत्युक्तः
स्वभावाख्यः स तु स्फुटम् ॥१९॥
सिद्ध्यङ्गमिति मोक्षाय
प्रत्यूह इति कोविदाः ।

स—राग एव हि 'स्वभावाख्योऽंशक' इत्यागमेषूक्तम्, तथाहि श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे

'अंशकं षड्विधं देवि कथयाम्यनुपूर्वशः ।'

इत्युपक्रम्य

'भावांशकः स्वभावाख्यः पुष्पपातांश एव च ।'

इत्युद्दिश्य

---

पं० १ क० ख० पु० कार्याकार्यमजानत इति पाठः ।
पं० २ क० ख० पु० विषयाग्रहा इति पाठः ।
पं० १४ क० पु० पुण्यपातांश इति पाठः ।

'स्वभावश्च भवेच्चेष्टा कथयाम्यनुपूर्वशः ।
ब्रह्मांशो वेदभक्तस्तु रुद्रांशं च निबोध मे ॥
रुद्रभक्तः सुशीलश्च शिवशास्त्ररतः सदा ।'

इत्यादिना असौ लक्षितः । ननु यद्येवं तत् सर्वोऽयं जनः स्वभाववशादेव स्वोचितं मोक्षमासादयेत्, इति को नाम अस्य हेयोपादेयविभागः? इत्याशङ्क्याह 'स तु' इत्यादि, स—एवं-विधः स्वभावः पुनः स्फुटम्

'पौरुषं चैव सांख्यानाम्.................... ।'

इत्याद्यागमप्रमाणसिद्धत्वेन अपरिम्लानतया तत्तत्स्वोचितभोगात्मिकायाः सिद्धेरङ्गमपि

'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।' (यो० सू० ३-५१ )

इत्याद्युक्तिवन्मोक्तुं विघ्न इत्यागमज्ञाः, एवंस्वभावो हि तत्तत्त्वावाप्तिलक्षणां सिद्धिमेव मु-

पं० ६ ख० पु० नाम तस्येति पाठः ।
पं० ९ ख० पु० पुरुषमिति पाठान्तरं च ।
पं० ११ क पु० तद्वत्स्वोचितेति पाठः ।

क्तिमभिमन्यते, इति मुक्त्याभासरूपायां हेयायां तस्यामेव विश्रान्तः ॥ १९ ॥

एवमेवंस्वभावत्वादेव साक्षान्मोक्षोपायमपहाय अन्यत्रासक्तो भवेत्, इत्याह

शिवशासनमाहात्म्यं
विदन्नप्यत एव हि ॥ २० ॥
वैष्णवाद्येषु रज्येत
मूढो रागेण रञ्जितः ।

ननु असौ साक्षान्मोक्षोपायतया शिवशासनस्य प्रभावातिशयं चेज्जानीते किमित्यन्यत्र आसक्तो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

यतस्तावति सा तस्य
वामाख्या शक्तिरैश्वरी ॥ २१ ॥
पाञ्चरात्रिकवैरिञ्च-
सौगतादेर्विजृम्भते ।

---

पं० १० क० ग० पु० किमन्यत्र आसक्त इति पाठः ।

तावतीति – तत्तन्नियतसिद्धिमात्रप्रदे, वामाख्येति

'वामा संसारवमनात्…………………… '

इत्याद्युक्त्या संसाराविर्भाविका तिरोधानशक्तिरित्यर्थः, वैरिञ्चाः – ब्रह्मवादिनः ॥ २१ ॥

ननु शिवशासनमाहात्म्यमजानन् चेदन्यत्र आसक्तो भवेत् तत् भवतु नाम, को दोषो, जानन् पुनः कथमेवम्? इत्याशङ्क्याह

दृष्टाः साम्राज्यसंभोगं
　　निन्दन्तः केऽपि वालिशाः ॥२२॥
न तु संतोषतः स्वेषु
　　भोगेष्वाशीःप्रवर्तनात् ।

इह खलु केऽपि वालिशप्राया अत्युत्कृष्टतया स्पृहणीयत्वेन परिज्ञायापि साम्राज्यसंभोगं वालिशत्वादेव निन्दन्तो दृष्टाः, न पुनः संतुष्टत्वात्,

पं० १५ ख० पु० निन्दतो दुष्टा इति पाठः।

तेषां हि भोगाभिलाषस्य दूरापास्तत्वात् तन्नि-न्दायामौचित्यमित्याशयः, बालिशानां पुनः सं-तोषस्तावन्नास्ति, यतः—स्वेषु अधमेषु भोगे-ष्वपि 'पुनः पुनरेतत् स्यात्'—इत्येवंरूपमाशी-र्वादं प्रवर्तयन्ते—भोगाभिलाषस्यानपास्तत्वात्, एवं विदन्तोऽपि शिवशासनमाहात्म्यं मूढाः तन्निन्दामारभमाणा अन्यत्रासक्ता दृश्यन्ते, यद्वशात् तेषां वामाधिष्ठितत्वात् पुनः पुनः सं-सारे एव निमज्जनं भवेत् ॥ २२ ॥

तदाह

एवंचिद्भैरवावेश-
निन्दातत्परमानसाः ॥ २३ ॥
भवन्त्यतिसुघोराभिः
शक्तिभिः पातिता यतः ।

अतिसुघोराभिरिति

---

पं० ६ क० पु० एवं वदन्तोऽपीति पाठः ।
पं० ११ ख० पु० एवं चेद्भैरवेति पाठः ।

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।'

इत्यादिलक्षिताभिः घोरतर्यभिधानाभिरपराभिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अत एव च अस्य मूढजनस्य संसारादुन्मज्जनमेव नास्ति, इत्याह

तेन शांभवमाहात्म्यं
जानन्यः शासनान्तरे ॥ २४ ॥
आश्वस्तो नोत्तरीतव्यं
तेन भेदमहार्णवात् ।

आश्वस्तहृदयत्वात् तन्निष्ठो, न पुनः

'अन्तः कौलो वहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः ।'

इत्यादिनीत्या लोकसंग्रहरक्षापरत्वेन उत्तानतया, इति नास्य संसारार्णवादुत्तारः स्यात्—तदन्तरेव उन्मज्जननिमज्जनानुभवस्याविच्छेदात् ॥ २४ ॥

न च एतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

श्रीकामिकायां प्रोक्तं च
पाशप्रकरणे स्फुटम् ॥ २५ ॥

तदेव पठति

वेदसांख्यपुराणज्ञाः
पाञ्चरात्रपरायणाः ।
ये केचिद्दृषयो धीराः
शास्त्रान्तरपरायणाः ॥ २६ ॥
बौद्धार्हताद्याः सर्वे ते
विद्यारागेण रञ्जिताः ।
मायापाशेन बद्ध्वा-
च्छिवदीक्षां न विन्दते ॥२७॥

धीराः—वेदादिविषय एव स्थिरप्रज्ञाः, शास्त्रा-
तरं वेदान्तादि, विद्या च रागश्चेति समाहारे
द्वन्द्वः, विद्या चात्र रागशब्दसंनिधेरशुद्धविद्यो-

च्यते, अत एव वेदादिशास्त्रनिष्ठा मायान्तःपातात् तदुत्तीर्णं शैवं ज्ञानं न लभन्ते, इत्युक्तम् 'मायापाशेन बद्धत्वाच्छिवदीक्षां न विन्दते।' इति ॥ २६ ॥ २७ ॥

पूर्वं च यदस्माभिः श्रीपूर्वशास्त्रीये संवादग्रन्थे विषयेच्छाशब्देन वेदादिशास्त्रान्तरोदिते मोक्षोपाये अभिष्वङ्गप्रदं नियतितत्त्वोपेतं रागतत्त्वं व्याख्यातं, तत् न निर्मूलम्, इत्यभिद्योतयितुम् अत्रत्यमपि रागशब्दं व्याचष्टे

रागशब्देन च प्रोक्तं
　　रागतत्त्वं नियामकम्।
मायीये तच्च तं तस्मि-
　　ञ्छास्त्रे नियमयेदिति ॥ २८ ॥

अत्र च रागशब्देनेति—वक्ष्यमाणेन हेतुना, नियामकं रागतत्त्वमुक्तमिति समन्वयः, निया-

पं० २ ख० पु० शैवज्ञानं ज्ञानेन लभन्ते इति पाठः।

मकमिति नियत एव कस्मिंश्चिद्विषयेऽभिष्वङ्ग-
दमित्यर्थः, यतस्तद्रागतत्त्वं तस्मिन्नियते मायी-
ये शास्त्रे वेदादौ, तं मूढं जनं नियमयेत् 'इद-
मेव ममाकाङ्क्षणीयम्' इति संकुचितत्वेनाव-
स्थापयेत्, यद्यपि सामान्येन सर्वविषयाभिला-
षमात्रमयत्वं नाम रागतत्त्वस्य स्वरूपं, तथापि
नियतविषयोपारोहमन्तरेण तत् नाभिव्यक्ति-
मियात्, इत्यवश्यमेव तन्नियतितत्त्वमाक्षिपेत्,
इति युक्तमुक्तं 'रागतत्त्वं नियामकम्' इति
॥ २८ ॥

ननु प्राप्तेऽपि वैष्णवादिशास्त्रान्तरोदिते मोक्षे
किमिति नाम अयं जनः संसारात् नोन्मज्जति?
इत्याशङ्क्याह

मोक्षोऽपि वैष्णवादेर्यः
स्वसंकल्पेन भावितः।
परप्रकृतिसायुज्यं
यद्वाप्यानन्दरूपता ॥ २९ ॥

विशुद्धचित्तमात्रं वा
दीपवत्संततिक्षयः ।
स सवेद्यापवेद्यात्म-
प्रलयाकलतामयः ॥ ३० ॥

यः खलु वैष्णवादीनां मते मोक्षः, सोऽपि अस्मद्दर्शने प्रलयाकलतामयः – इति संबन्धः, तत्र वैष्णवानां 'परप्रकृतिसायुज्यं मोक्षः' तन्मते हि भगवद्वासुदेवाभिधानस्य महाविभूतेश्चेतनाचेतनविधातृत्वात् परप्रकृतिरूपस्य परस्य ब्रह्मणः स्वस्वभावात् क्रमविचित्रतया तथा तथाभावनात् विश्वरूपतयानेकात्मनोऽपि

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।'

इत्यादिश्रुतेः तत्त्वज्ञानाभ्यासात् परिशुद्धसंविद्रूपैकतत्त्वाव्यभिचारात् अनैक्यस्यापारमार्थिकत्वात् उपशान्तविकारग्रन्थेरैक्यात्मावगमो मोक्षः, यत्श्रुतिः

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।'

इति ।

'……ततः सर्गो बुद्बुदत्वेनाभिव्यज्यते ।'

इति च। ब्रह्मवादिनाम् 'आनन्दरूपता मोक्षः' तन्मते हि संसारदशायामविद्यावरणवशेन अनुभूयमानस्य आत्मनः

'आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।'

इत्यादिश्रुतेः तत्त्वज्ञानाभ्यासादविद्यावरणापगमे निरवधिकनिरतिशयस्वप्रकाशनैसर्गिकानन्दसुन्दरतया संवेदनं मोक्षः यत्श्रुतिः

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।'

इति। विज्ञानवादिनां 'विशुद्धचित्तमात्रं मोक्षः' तन्मते हि स्वभावतः प्रभास्वरस्वरूपस्य चित्तसंतानस्यानाद्यविद्याबलात् रागादिभिरागन्तुकैर्मलैरावृतत्वेऽपि नैरात्म्यादिभावनाभ्यासात् तत्तदागन्तुकमलप्रहाणेन आश्रयपरावृत्तिबलाद-

विनश्वरज्योतीरूपस्वस्वरूपसाक्षात्कारो मोक्षः, यदाहुः

'प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः ।
तेषामपाये सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम् ॥'

इति। वैभाषिकाणां 'दीपवत् संततिक्षयो मोक्षः तन्मते हि क्लेशकर्मादिहेतुसमुत्थं तत्फलरूपं रूपादिस्कन्धपञ्चकम्, इति तदुभयात्मायं संसारः, यदाहुः

'हेतुफले संसारः　　।'

इति, मोक्षः पुनर्दीपस्य यथा स्नेहादिकारणक्षयात् पुनरुत्पादायोगात् निरोधः, तथैव नैरात्म्यादिभावनाभ्यासात् क्लेशकर्मादिप्रहाणेन रूपादीनां पञ्चानामपि स्कन्धानाम् इति, यदाहुः

'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
देशं न कंचिद्विदिशं न कांचित्
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

पं० १८ ख० पु० क्लेशक्षयादिति पाठः ।

योगी तथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
देशं न कंचिद्विदिशं न कांचित्
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥'

इति । प्रलयाकलानां 'सवेद्यापवेद्यात्मेति' विशेषणोपादाने च अयमभिप्रायः—अत्राद्ये पक्षद्वये ब्रह्मण आनन्दमयत्वात् स्वात्मपरामर्शकतया सवेद्यप्रलयाकलप्रायत्वम्, इतरत्र पुनरेकस्य नित्यस्य कस्यचिद्वेदकस्य अनभ्युपगमात् अपवेद्यप्रलयाकलप्रायत्वम्, पक्षचतुष्टयस्य अस्य पक्षान्तरोपलक्षणत्वात् अक्षपादमतादावात्मनः सर्वगुणोच्छेदात्मनि अपवर्गेऽपि अपवेद्यप्रलयाकलप्रायत्वमेवावसेयम्, प्रलयाकलानां च मलद्वयावशेषात् संसारकारणस्याप्रक्षयात् संसारित्वमेव, इति—एतत्प्रायस्य मोक्षस्यापि हेयत्वमुक्तम्, एवं च व्यर्थ एव तैस्तत्तत्तत्त्वप्रलयात्

पं० ८ ख० पु० अवेद्यप्रलयाकलेति पाठः ।

पं० १३ क० पु० मलवत्त्वाविशेषादिति पाठः ।

स्वारसिक्यामपि प्रलयाकलतायां यत्नः कृतः इति भावः, अत एव 'स्वसंकल्पेन भावितः' इत्यनेन च अस्य पक्षचतुष्टयस्य काल्पनिकत्वात् अवास्तवत्वं प्रकाशितम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

ननु इह 'बन्धप्रक्षयो नाम मोक्षः' स च

'............अन्धात्तैमिरिको वरः ।'

इतिन्यायेन त्रिमलबद्धं सकलमपेक्ष्य द्विमलबद्धस्य प्रलयाकलस्य वृत्तः — इति किमिति नामास्य तत्प्रायस्यापि मोक्षस्य एकान्ततो हेयत्वम्? इत्याशङ्क्याह

तं प्राप्यापि चिरं कालं
तद्भोगाभोगभुक्ततः ।
तत्तत्त्वप्रलयान्ते तु
तदूर्ध्वां सृष्टिमागतः ॥ ३१ ॥
मन्त्रत्वमेति संबोधा-
दनन्तेशेन कल्पितात् ।

पं० १२ क० पु० भोगभुक्तित इति पाठः ।

वैष्णवादिः खलु अयं जनः, तं – प्रलयाकल-प्रायं मोक्षं चिरं कालमासाद्यापि प्रलयाकलसं-बन्धिमोहादिरूपभोगाभोगभुक् सन्, समन-न्तरं तस्य प्रलयाकलभोगभूमेर्मायादेस्तत्त्वस्य प्रलयान्ते, पुनः सृष्टिप्रारम्भे

'...........प्रबुध्यन्ते मन्त्रत्वाय भवाय ।'

इत्यादिनीत्या आयातशक्तिपातत्वे सति अन-न्तेशेन कृतात् ज्ञानक्रियोत्तेजनलक्षणात् संबो-धात्, तदूर्ध्वां – मायोपरिवर्तिनीं शुद्धां सृष्टिं प्राप्तः सन् मन्त्रत्वमेति, अन्यथा पुनः संसारि-त्वम् – इति सिद्धम्, अत एव प्राप्तायामपि वैष्णवादिदर्शनान्तरोक्तायां मुक्तौ संसारस्य प्रक्षयो न जायते, इति तत्र हेयत्वमुक्तम् ॥३१-॥

ननु समानेऽपि प्रलयाकलत्वे केषांचिन्मन्त्रत्वं केषांचित् संसारित्वम्, इत्यत्र किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

एतच्चाग्रे तनिष्याम
इत्यास्तां तावदत्र तत् ॥ ३२ ॥

अग्र इति—नवमाह्निकादौ, यद्वक्ष्यति

'एतत्कार्ममलं प्रोक्तं येन साकं लयाकलाः ।
स्युर्गुहागहनान्तःस्थाः सुप्ता इव सरीसृपाः ॥
ततः प्रबुद्धसंस्कारास्ते यथोचितभागिनः ।
ब्रह्मादिस्थावरान्तेऽस्मिन्संसरन्ति पुनः पुनः ॥
ये पुनः कर्मसंस्कारहान्यै प्रारब्धभावनाः ।
भावनापरिनिष्पत्तिमप्राप्य प्रलयं गताः ॥
महान्तं ते तथान्तःस्थभावनापाकसौष्ठवात् ।
मन्त्रत्वं प्रतिपद्यन्ते चित्रं चित्राच्च कर्मतः ॥'

इति । 'इत्यास्ताम्' इति प्रकृते तर्कतत्त्वेऽस्यानुपयोगात् ॥ ३२ ॥

ननु यदि नाम दर्शनान्तरोक्तया मुक्त्या संसारस्य प्रक्षयो न जायते, तत् कस्मादयं वैष्णवादिर्जनस्तत्र अनुरज्यते ? इत्याशङ्क्याह

पं० ८ क० पु० कर्मसंहारहान्यै इति पाठः ।
पं० १० ख० पु० महान्तं तमिति पाठः ।

तेनाज्ञजनताक्लृप्त-
प्रवादैर्यो विडम्बितः ।
असद्गुरौ रूढचित्स
मायापाशेन रञ्जितः ॥ ३३ ॥

यः खलु वैष्णवादिर्जनोऽज्ञजनतया—कपिलादिना उपदेष्टृसमूहेन, कल्पितैः—प्रकृतिपुरुषविवेकादिभिः प्रवादैः मोहितः, स यतस्तेन सकललोकप्रसिद्धेन भगवता परमेश्वरेण, मायापाशेन—वामाख्यया शक्त्या, तत्रैव गाढानुरक्तीकृतः, अत एवासद्गुरौ तत्त्वोपदेष्टरि आचार्यविशेषे रूढचित्—आश्वस्तो, न तु जिज्ञासामात्रवान्, सद्गुरौ पुनराश्वस्तस्य साक्षादेव मोक्षो भवेदित्यर्थसिद्धो व्यतिरेकः, अत एव चानेन तर्कतत्त्वानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टं तदनुषक्तमेव गुरुसतत्त्वमपि प्रतिपादयितुमुपक्रमः कृतः ॥ ३३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि अस्य वैष्णवादेर्वामाधिष्ठितत्वात् सद्गुरावेवाश्वासो न जायते, इति का कथा साक्षान्मोक्षावाप्तौ? इत्याशङ्क्याह

सोऽपि सत्तर्कयोगेन
　नीयते सद्गुरुं प्रति ।
सत्तर्कः शुद्धविद्यैव
　सा चेच्छा परमेशितुः ॥ ३४ ॥

सोऽपीति—असद्गुरौ रूढचित् वैष्णवादिः, ननु युक्तियुक्ते वस्तुनि तर्केण प्ररोहः क्रियते शिवशक्त्या च सद्गुरुप्राप्तिः, इति सर्वत्रैवोक्तम्

'यत्र रूढिः प्रजायेत युक्तियुक्ते विनिश्चयात् ।
शुद्धविद्याप्रसादोऽसावित्याह भगवाञ्छिवः ॥'

इति, सेति शुद्धविद्या, इच्छेति सद्गुरुप्राप्तिपर्यवसायिनी अनुग्रहरूपा ॥ ३४ ॥

न च एतत् स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं
　स यियासुः शिवेच्छया ।

---

पं० ९ ख० पु० न तु युक्तियुक्तो वस्तुन इति पाठः ।

भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं
नीयते सद्गुरुं प्रति ॥ ३५ ॥

सः – रुद्रशक्तिसमाविष्टः, स्वस्वरूपं प्राप्तुमिच्छुः, ज्येष्ठाख्यशक्तिरूपया शिवेच्छया सद्गुरुं प्रति नीयते – सद्गुर्वाभिमुख्येन प्रवर्त्यते, येनास्य भुक्तिमुक्ती सिद्ध्यतः, तेन सत्तर्कशिवशक्त्योरभेदात् यत् सत्तर्केण सद्गुर्वाभिमुख्येन प्रवर्तनं तत् शिवशक्त्यैव, इति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

ननु 'सर्वस्य शिवेच्छयैव असद्गुरौ सद्गुरौ वा आभिमुख्यमभिजायते' इत्युक्तं, तत् सद्गुरावेव तदस्तु, किं क्रमेण ? इत्याशङ्क्याह

शक्तिपातस्तु तत्रैष
क्रमिकः संप्रवर्तते ।
स्थित्वा योऽसद्गुरौ शास्त्रा-
न्तरे वा सत्पथं श्रितः ॥ ३६ ॥

शास्त्रान्तरे इति – अर्थादसत्पथे वैष्णवाद्ये,

पं० १६ क० ख० पु० असद्रूपे इति पाठः ।

सत्पथं शैवगुरुशास्त्रलक्षणम्, तत्रेति—असद्गुर्वाद्याश्रयानन्तरं सद्गुर्वाद्याश्रिते ॥ ३६- ॥

ननु अयं लोकश्चेत् सद्रूपमसद्रूपं वा गुरुं शास्त्रं च शक्तिपातवशादाश्रयेत् तदस्तु, को नाम दोषः, तयोरेव पुनरसत्त्वे सत्त्वे वा किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

गुरुशास्त्रगते सत्त्वे-
ऽसत्त्वे चात्र विभेदकम्।
शक्तिपातस्य वैचित्र्यं
पुरस्तात्प्रविविच्यते ॥ ३७ ॥

अत्रेति—समनन्तरोक्ते, पुरस्तादिति—शक्तिपाताह्निकादौ, विभेदकं—विशेषे हेतुः, एवं वामाख्यया मायाशक्त्या अधिष्ठिता दर्शनान्तरीया गुर्वाद्याः, ज्येष्ठाशक्त्या पुनरास्माकाः, तेन तच्छक्त्यैवाधिष्ठितोऽयं लोकः तत्राश्वस्तः स्यात् ॥ ३७ ॥

पं० ७ ख० पु० सत्त्वासत्त्वे चात्रेति पाठः।

पं० १२ ख० पु० विशेषणहेतुरिति पाठः।

न च एतदप्रमाणकम्, इत्याह

उक्तं स्वच्छन्दशास्त्रे तत्
वैष्णवाद्यान्प्रवादिनः ।
सर्वान्भ्रमयते माया
सामोक्षे मोक्षलिप्सया ॥ ३८ ॥

भ्रमयते इति अतस्मिंस्तद्ग्रहात्, तदाह 'अ-मोक्षे मोक्षलिप्सया' इति, अत्र चार्थद्वारेण पाठे अयमाशयो—यत् तत्र बहुधोक्तमिति, तदुक्तं

'अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी ।
निर्वैरपरिपन्थिन्या यया भ्रमितबुद्धयः ॥
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः ।
सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम् ॥
गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ।
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ॥
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।'

इति । तथा

---

पं० ३ क० पु० वैष्णवाद्यान्प्रमादिन इति पाठः ।

'सांख्यवेदपुराणज्ञा अन्यशास्त्रविनिश्चये ।
न तांल्लङ्घयितुं शक्ता यदान्ये मोक्षवादिनः ॥
क्लिश्यन्ते मायया भ्रान्ता अमोक्षे मोक्षलिप्सया ।'

इति ॥ ३८ ॥

ननु यदि वैष्णवादिरयं जनो मायया भ्रमितः तत् तस्य तत्रैव संस्कारप्ररोहात् असन्मार्गादवरोहो न स्यात्, इत्यस्य कदाचिदपि सन्मार्गारोहो न भवेत्? इत्याशङ्क्याह

यस्तु रूढोऽपि तत्रोद्य-
　त्परामर्शविशारदः ।
स शुद्धविद्यामाहात्म्या-
　च्छक्तिपातपवित्रितः ॥ ३९ ॥
आरोहत्येव सन्मार्गं
　प्रत्यूहपरिवर्जितः ।

यः पुनस्तत्र वैष्णवादौ संस्कारदार्ढ्यात् जातप्ररोहोऽपि उद्यन्योऽसौ सत्तर्कात्मा परामर्शः तेन विशारदः — सारेतरविभागकुशलः, अत

एव स सत्तर्कात्मशुद्धविद्यामाहात्म्यात् ज्येष्ठा-
शक्त्यधिष्ठानपवित्रीभूतः सन् निर्विघ्नमेव सन्मा-
र्गमारोहति—अस्मद्दर्शननिष्ठो भवेत्, येनास्य
साक्षात् मोक्षः स्यात् ॥ ३९- ॥

ननु अस्य परामर्शोदये किं निमित्तम्?
इत्याशङ्क्याह

स तावत्कस्यचित्तर्कः
स्वत एव प्रवर्तते ॥ ४० ॥
स च सांसिद्धिकः शास्त्रे
प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः ।

स्वत एव—लोकप्रसिद्धगुरूपदेशादिनिमि-
त्तानपेक्षं, न तु सर्वसर्विकया निर्निमित्तमेव, व-
स्तुतः पारमेश्वरशक्तिपातादेर्निमित्तान्तरस्यापि
संभवात्, अत एव चास्य यौगिकमपि नाम
अस्मद्दर्शनेऽभिहितम्, इत्याह 'स च' इत्यादि

पं० ११ क० पु० निमित्तान्तरानपेक्षामिति पाठः ।

स इति—स्वयं प्रवृत्ततर्कः, सांसिद्धिक इति—तर्केण स संसिद्ध्या जन्मनागत इत्यर्थः, उक्तं च

'गुरुशास्त्रानपेक्षं च यस्यैतत्स्वयमुद्भवेत् ।
स सांसिद्धिक इत्युक्तस्तत्त्वनिष्ठो महामुनिः ॥'

इति । अत एव स्व आत्मीयो, न तु गुर्वादि-परापेक्षः, इदमेवेति सुनिश्चितं ज्ञानमात्मा स्व-भावो यस्य स तथोक्तः ॥ ४०- ॥

ननु अन्यत्र परतत्त्वाधिगमे गुर्वाद्यन्यदपि कारणतयोक्तम्, इह पुनः कथं स्वत एव इति 'एकमेव' इत्याशङ्क्याह

किरणायां यदप्युक्तं
गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ॥ ४१ ॥
तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं
पूर्वपूर्व उपायकः ।

यदपि किरणाख्यायां संहितायां मायाधर्मैः शून्यं परं तत्त्वं ज्ञातुम्—

---

पं० २ क० पु० संसिद्ध्य जन्मतेति पाठः ।

'शून्यमेवं-विधं ज्ञेयं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ।'

इत्यादिना कारणत्रयमुक्तं, तत्र उत्तरोत्तरं मुख्यं विवक्षितं, यथा – गुरुतः शास्त्रं, ततोऽपि स्वपरामर्शः, यतः पूर्वः पूर्वो यथा गुरुः शास्त्रे उपायः, तदपि स्वपरामर्शे । एवम्

'उपादायापि ये हेयास्तानुपायान्प्रचक्षते ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्यां गुरुशास्त्रयोरुपायत्वादमुख्यत्वम्, इति स्वपरामर्शस्यैव प्राधान्यं, येन अत्रास्यैव उपादानम् ॥ ४१- ॥

तेन यस्य स्वत एव परामर्श उद्भवेत् स एव सर्वत्र अधिकृतः, इत्याह

यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः
सर्वत्रैवाधिकारवान् ॥ ४२ ॥
अभिषिक्तः स्वसंवित्ति-
देवीभिर्दीक्षितश्च सः ।

---

पं० ३ ख० पु० स्वः परामर्शो यत्रः पूर्वपूर्वोनुत्कृष्टः, यथा गुरुतः शास्त्रमुपायः ततोपि स्वपरामर्शो इत्येवं विधः पाठः ।

यस्य स्वतो — गुर्वादिनैरपेक्ष्येण, अयं समनन्तरोक्तः सत्तर्क उदेति, स सर्वत्रैव — योगज्ञानादावधिकारवान्भवेत् ॥ ४२- ॥

ननु

‘न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे ।’

इत्याद्युक्त्या दीक्षादिकमपहाय कथमस्य सर्वत्रैवाधिकारः? इत्याशङ्क्योक्तं ‘स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितोऽभिषिक्तश्चेति — स्वा आत्मीया याः संवित्तय इन्द्रियवृत्तयः ता एव

‘बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः ।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्तिताः ॥’

इत्याद्युक्त्या प्रमात्रैकात्म्यमभिद्योतयन्त्यो देव्यः, ताभिर्ज्ञानक्रियोत्तेजनेन सर्वत्रैव स्वातन्त्र्यमापादितः, इत्यर्थः ॥ ४२- ॥

अतश्च स एव परमुत्कृष्ट इत्याह

स एव सर्वाचार्याणां
मध्ये मुख्यः प्रकीर्तितः ॥ ४३ ॥

तत्संनिधाने नान्येषु
कल्पितेष्वधिकारिता ॥

सर्वाचार्याणां वक्ष्यमाणानामकल्पितकल्पकादीनां मुख्यत्वादेव च तत्संनिधावन्येषां न परानुग्रहादावधिकारः, इत्युक्तं 'तत्संनिधाने न' इत्यादि, यद्वक्ष्यति

'यथा भेदेनादिसिद्धाच्छिवान्मुक्तशिवा ह्यधः ।
तथा सांसिद्धिकज्ञानादाहृतज्ञानिनोऽधमाः ॥
तत्संनिधौ नाधिकारस्तेषां मुक्तशिवात्मवत् ।
किन्तु तूष्णींस्थितिर्यद्वा कृत्यं तदनुवर्तनम् ॥'

इति ॥ ४३- ॥

ननु गुरुतः शास्त्राधिगमः—इत्यत्र सर्वेषामविवादः, तद्यस्य गुरुरेव नास्ति तस्य शास्त्राधिगमे का वार्ता? इत्ययं स्वयं प्रवृत्ततर्कोऽपि दीक्षाद्यारभमाणः

'शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद्दीक्षादौ वीरवन्दिते ।'

---

पं० १४ ख० पु० स्वप्रवर्तिततर्क इति पाठः ।

इत्याद्युक्त्या कां नाम सिद्धिमासादयेत्? इत्याशङ्क्याह

स समस्तं च शास्त्रार्थं
　　सत्तर्कादेव मन्यते ॥ ४४ ॥

मन्यते, इत्यवबुध्यते ॥ ४४- ॥

ननु गुर्वादिनैरपेक्ष्येण कथमेतावतैव समस्तशास्त्रावबोधो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

शुद्धविद्या हि तन्नास्ति
　　सत्यं यद्यन्न भासयेत् ।

न च एतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धम्, अपि त्वागमेनापि इत्याह

सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्व-
　　मकस्माच्चास्य जायते ॥ ४५ ॥

---

पं० ५ क० पु० मन्यत इत्यारभ्य आशङ्क्याह इत्यन्तः पाठो ग० पुस्तकात्पूरितोऽस्ति ।

पं० १२ ख० पु० सर्वशब्दार्थेति पाठः ।

इति श्रीपूववाक्ये तद्-
अकस्मादिति-शब्दतः ।

तत् — सत्तर्कनिमित्तकं समस्तशास्त्रावबोधलक्षणं वस्तु, 'अकस्मादितिशब्दात्' उक्तमिति संबन्धः ॥

ननु 'अकस्मात् इति' शब्दमात्रादेव कथमेतदुक्तं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

लोकाप्रसिद्धो यो हेतुः
सोऽकस्मादिति कथ्यते ॥ ४६ ॥
स चैष परमेशान-
शुद्धविद्याविजृम्भितम् ।

अकस्मादिति हि निर्निमित्तत्वमुच्यते, नचैतद्युज्यते, तथात्वे हि — नित्यसतत्त्वमतत्त्वं वा स्यात् ॥ ४६- ॥

---

पं० २ क० पु० इति शब्दितम् इति पाठः ।

पं० १३ ख० पु० नित्यं सत्त्वमसत्त्वमिति, ग० पु० नित्यसत्त्वमतत्त्वमिति च पाठः ।

तदत्र केनचित् हेतुना अवश्यभाव्यं, स च न लोकप्रसिद्धो – गुरूपदेशादेः साक्षाददृष्टत्वात्, तेन पारिशेष्याल्लोकाप्रसिद्धः, स चैष फलानुमेयः पारमेश्वरः शुद्धविद्यासमुल्लासो, यद्वशादेव अस्य गुरुशास्त्रानपेक्षं सर्वविषयं प्रातिभं महाज्ञानमुदियात्, यद्वक्ष्यति

'मध्यतीव्रात्पुनः सर्वमज्ञानं विनिवर्तते ।
अयमेव यतो याति बन्धमोक्षतथात्मताम् ॥
तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यानपेक्षि यत् ।'

इति ॥

उपाधिभेदाच्च अस्य नानात्वम्, इत्याह

अस्य भेदाश्च बहवो
निर्भित्तिः सहभित्तिकः ॥४७॥
सर्वगोऽंशगतः सोऽपि
मुख्यामुख्यांशनिष्ठितः ।

---

पं० ९ क० पु० शास्त्राचार्यानपेक्षयेति पाठः ।

भित्तिः परोपजीवित्वं
परा प्रज्ञाथ तत्कृतिः ॥ ४८ ॥

भित्तेर्निष्क्रान्तो निर्भित्तिः, सह भित्त्या वर्तते इति सहभित्तिकः इत्यस्य सांसिद्धिकस्य मुख्यं भेदद्वयं, सहभित्तिकश्च सर्वामेव भित्तिं गतः स्यात् अंशेन वा, इत्युक्तं 'सर्वगोऽशगतश्च' इति, सोऽपि अंशगतः मुख्यांशनिष्ठितः स्यात् अन्यथा वा, इति सहभित्तिकस्य त्रयो भेदाः, निर्भित्तिना सह अस्य चत्वारः, बहुत्वं च — भित्तेस्तदंशानां च नानात्वात्, अत्र यद्भावाभावाभ्यां भेदोल्लासः तं भित्तिशब्दं व्याचष्टे 'भित्तिः' इत्यादिना, परोपजीवित्वमिति — उपजीव्यमानः परो भित्तिरित्यर्थः, कः परः? इत्याशङ्क्योक्तं 'परः प्रज्ञाथ तत्कृतिः' इति, प्रज्ञा — स्वविमर्शः, तत्कृतिः — तत्तत्कर्माभिधायकं परकृतं शास्त्रम्। ननु अस्य स्वत एव ज्ञानोदयादुपजीव्यमानतया परो नास्ति, इत्यतोऽस्तु नाम

निर्भित्तिकत्वं, को दोषः, सहभित्तिकत्वे पुनरस्य उच्यमाने सांसिद्धिकत्वमेव न स्यात् – परोपजीवित्वेन कल्पितत्वापत्तेः, न च असंभवत्तत्सामान्यः तद्विशेषो नाम, इति कथमस्य सहभित्तिकत्वमुक्तम्? उच्यते – इह खलु स्वत एव सत्तर्कोदयात् खिलीकृतनिखिलबन्धनस्य भैरवीभावपूर्णस्य सांसिद्धिकस्य गुरोः स्वात्मनि कृतकृत्यत्वात् शेषवृत्तौ परानुग्रह एव परं प्रयोजनम्, यदुक्तं प्राक्

'समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटङ्कधर्मणः ।
नानुग्रहादृते किंचिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम् ॥'

इति । तथा

'स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारक्यं प्रति घटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥'

इति च । तत्रास्य निर्मलसंविदोऽनुग्राह्यान् प्रति

---

पं० ३ ख० पु० अकल्पितत्वानुपपत्तेरिति पाठः ।

पं० १४ पारार्थ्यमिति मूलपाठः ।

निरुपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम् – इत्यसौ निरनुसंधानदर्शनमात्रेणैव स्वसंवित्संक्रान्तेः स्वसाम्यापादनेनताननुगृह्णाति, यदुक्तं प्राक्

'तं ये पश्यन्ति तादृप्यक्रमेणामलसंविदः ।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्सेवास्यानुग्रहात्मता ॥'

इति, यदभिप्रायेणैव परानुग्रहेऽपि परानपेक्षित्वात् 'निर्भित्तिकः' इत्ययमुच्यते। अनिर्मलसंविदः प्रति पुनरस्य सोपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम् – इति 'असावित्थं मयायमनुग्राह्यः' इत्याद्यनुसंधानेन अत्र प्रवृत्तेः सर्वमेव बाह्यमुपकरणजातमपेक्षते, येनास्य परानुग्रहः सिद्ध्येत्, यदुक्तं प्राक्

'सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥'

इति ।

'तदर्थमेव चास्यापि परमेश्वररूपिणः ।
तदभ्युपायशास्त्रादौ श्रवणाध्ययनादरः ॥'

इति च। अनिर्मलचित्त्वेऽपि अनुग्राह्याणां वैचित्र्यात् तत्तदाशयानुसारेण उपकरणानामपि आनन्त्यम्—इति तदभिधायकं शास्त्रमपि सर्वेषामेवापेक्षणीयम्, अन्यथा हि परानुग्रहो न सिद्ध्येत्, यदुक्तम्

'चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने ।
व्याधिभेदाद्यथा भेदो भेषजानां महौजसाम् ॥
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति ।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ॥'

इति । यदभिप्रायेणैवास्य सर्वगतत्वमुक्तम् । कश्चिदपि असावेकमेव नियतं शास्त्रमधिकृत्य तदुचितानेव अनुग्राह्याननुगृह्णाति—इत्यंशगतत्वम् अस्योक्तम्, यद्वक्ष्यति

'कल्पवित्तत्समूहज्ञः शास्त्रवित्संहितार्थवित् ।
सर्वशास्त्रार्थविच्च........................ ॥'

इति ।

'यो यत्र शास्त्रे स्वभ्यस्तज्ज्ञानो व्याख्यां चरेत्तु सः ।
नान्यथा........................ ॥'

---

पं० ३ क० ख० पु० सर्वमेवेति पाठः ।

इति च । तत्तच्छास्त्रात्मनामंशानामपि

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥'

इत्याद्युक्त्या यथोत्तरं मुख्यत्वम्, इतरेषां चामुख्यत्वम्—इति मुख्यामुख्यरूपत्वमुक्तम् । न च अस्य एवमपि परमुखप्रेक्षित्वात् सांसिद्धिकत्वं खण्ड्यते—स्वात्मनि स्वत एव कृतकृत्यत्वात् परार्थमेतदपेक्षणात्, यदुक्तं प्राक्

'नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।
नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ॥'

इति, तेनास्य स्वात्मन्यन्यानपेक्षणात् सांसिद्धिकत्वमेव—इति यथोक्तमेव युक्तम्॥४७-४८॥

न च एतत् स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं
यः कश्चिद्वेत्ति तत्त्वतः ।
स सिद्धिभाग्भवेन्नित्यं
स योगी स च दीक्षितः ॥४९॥

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन
तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं
तच्छ्रीत्रिंशकशासने ॥ ५० ॥

परशक्तिपातानुगृहीतत्वात् गुर्वाद्यनपेक्षणेन, अदृष्टं — बाह्यदीक्षोपकरणोपलक्षणभूतं, मण्डलं — यागादि येन स, तथाविधोऽपि, अत एव तिलाज्याहुतिवर्जिताम्, असंदिग्धां निर्वाणगामिनीं दीक्षां भजमानो, यः कश्चित् एवमेव — स्वत एव तात्त्विकेन रूपेण विशेषानुपादानात् स्वात्मानं वेत्ति, स दीक्षितः — स्वसंवित्तिदेवीभिरेव पाशक्षपणपुरःसरं स्वात्मज्ञानपात्रतामापादितः, अत एव स नित्यं योगी — व्युत्थानकालेऽपि परमेश्वरैकात्म्यवान्, अत एव स सिद्धिभाक् — जीवन्नेव मोक्षलक्षणां सिद्धिं भजमानः — इत्येतत् श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे प्रोक्तं — नैतन्निष्प्रमाणकमित्यर्थः । तत्र च

'अदृष्टमण्डलोऽप्येवम्........................ ।'

इत्यादिश्लोकानन्तरम्

'अनेन ज्ञातमात्रेण........................ ।'

इत्यादिग्रन्थान्तरं संभवदपि प्रकृतानुपयोगात् न पठितम्, अदृष्टमण्डलत्वादेव च 'तिलाज्याहुतिवर्जितत्वादि' अवसीयते, इति – तदपि न पठितम् ॥ ४९ ॥ ५० ॥

अस्य च व्यपदेशान्तरमपि अस्ति, इत्याह

अकल्पितो गुरुर्ज्ञेयः
सांसिद्धिक इति स्मृतः ।

य एष गुरुः 'सांसिद्धिकः' इत्यस्मच्छास्त्रे स्मृतः, स आचार्यान्तरेण अनिष्पादितत्वात् 'अकल्पितो' ज्ञेयः – अकल्पितशब्दव्यपदेश्योऽपि भवेदित्यर्थः ।

---

पं० १२ क० पु० स एष गुरुराचार्येति पाठः ।

एवमकल्पितं गुरुमुक्त्वा तत्संबन्धतया गुर्वन्तरमपि आह

यस्तु तद्रूपभागात्म-
भावनातः परं विना ॥ ५१ ॥
शास्त्रवित्स गुरुः शास्त्रे
प्रोक्तोऽकल्पितकल्पकः ।

यः पुनः सांसिद्धिकरूपभागपि स्वयमुदिते ज्ञाने तावता पारिपूर्ण्यस्याभावात्

'अहमेव परो हंसः ........................ ।'

इत्याद्युक्तेरात्मभावनाबलात्, परं गुर्वादिकमनपेक्ष्य शास्त्रवित्, स गुरुर्ज्ञानस्य सांसिद्धिकत्वेनाकल्पितत्वात् आत्मभावनातः शास्त्रवेदनक्रमेण कल्पनाच्च 'अकल्पितकल्पकः' इत्यस्मच्छास्त्रे प्रोक्तः ॥ ५१ ॥

---

पं० ३ क० पु० तद्रूपभागात्मा भावनेति पाठः ।

पं० १० क० पु० इत्यास्मदुक्तगतेरात्मनो भावेति पाठः ।

सांसिद्धिकवदस्यापि बहवो भेदाः, इत्याह

तस्यापि भेदा उत्कृष्ट-
मध्यमन्दाद्युपायतः ॥ ५२ ॥

उपायः — शक्तिपातः ॥ ५२ ॥

ननु अस्य स्वयं प्रवृत्तज्ञानपारिपूर्ण्याय किमात्मभावनैव निमित्तम्, उतान्यदपि किंचित्? इत्याशङ्क्याह

भावनातोऽथ वा ध्याना-
ज्जपात्स्वप्नाद्व्रताद्धुतेः ।
प्राप्नोत्यकल्पितोदार-
मभिषेकं महामतिः ॥ ५३ ॥

अयं खलु महाज्ञानी भावनाद्यनन्तोपायमाहात्म्यात् गुर्वादिना परेणाकृतत्वात् अकल्पितम्, अत एवोदारं — महान्तम्, अभिषेकं प्राप्नोति — शास्त्रज्ञानादावधिकारवान्भवति, इत्यर्थः ॥५३॥

ननु एवं ज्ञानावाप्तौ भावनादिनिमित्तानन्त्ये किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

श्रीमद्वाजसनीये श्री-
वीरे श्रीब्रह्मयामले ।
श्रीसिद्धायामिदं धात्रा
प्रोक्तमन्यत्र च स्फुटम् ॥ ९४ ॥

इदमिति — भावनादीनां निमित्तानामानन्त्यम् ॥ ९४ ॥

एवमनेकागमोक्तावपि निदर्शनार्थं प्रथमं श्रीसर्ववीरग्रन्थं पठति

तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तत्वात्-
कारणानन्ततेष्यते ।
कदाचिद्भक्तियोगेन
कर्मणा विद्ययापि वा ॥ ९५ ॥
ज्ञानधर्मोपदेशेन
मन्त्रैर्वा दीक्षयापि वा ।

एवमाद्यैरनेकैश्च
प्रकारैः परमेश्वरः ॥ ५६ ॥
संसारिणोऽनुगृह्णाति
विश्वस्य जगतः पतिः ।

तत्र हि

'अनादिमति संसारे कारणं परमेश्वरः ।
स्वभावेनैव जन्तूनामनुग्रहपरः सदा ॥'

इत्यादिना परमेश्वरस्य स्वस्वातन्त्र्यादेव अनुग्रहकारित्वमुपक्रम्य

'तया बद्धाञ्छिवो जन्तून्स्वेच्छया मोचयत्यतः ।'

इत्यादिना तदेव निर्वाह्य, अनेन ग्रन्थेन भगवतः स्वातन्त्र्येऽपि परानुग्रहे निमित्तान्तरोपलक्षितत्वमुक्तम्, तथाहि—तस्य परमेश्वरस्यैव भगवतः

'इच्छैव कारणं तस्य........................ ।'

इत्याद्युक्त्या स्वेच्छाया एवानुग्रहादिप्रवृत्तौ का-

---

पं० १५ ख० पु० इच्छैव करणमिति पाठः ।
पं० १६ क० पु० स्वेच्छया एवेति पाठः ।

रणत्वेऽपि अनुग्राह्यभेदात् तस्या अपि वैचित्र्यात् कारणानामानन्त्यमुच्यते, वस्तुतस्तु तदतिरेक्य-न्यत् अस्यापेक्षणीयं नास्ति—इति बहुशः प्रागुक्तम्, तेन निखिलस्य जन्मवतो जन्तुचक्रस्य पालनादियोगात् 'पतिः' परमेश्वरोऽसौ तत्तदाशयानुसारेण कदाचिद्भक्त्या कदाचिद्योगेन—इत्येवमाद्यैरनेकैः कारणप्रकारैः संसारिणः—संकुचितं प्रमातृवर्गमनुगृह्णाति, संकोचापहस्तनेन पूर्णज्ञानरूपतया प्रथयतीत्यर्थः। 'एवमाद्यैः' इत्यनेन तपोजपादेर्ग्रहणम्, एवं—पूर्णज्ञानावाप्तावनेके उपायाः संभवन्ति, इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

एवमुपदर्शितेऽपि निमित्तानन्त्यसाधनाय प्र-

---

पं० २ ख० पु० करणानामानन्त्येति पाठः।

पं० २ क० पु० तद्व्यतिरेक्यानन्त्यस्य अपेक्षणीयमिति पाठः।

पं० ७ क० पु० अनेकैः कर्मप्रकारैरिति, ख० पु० करणप्रकारैरिति पाठः।

माणेऽधिकावापं कर्तुं श्रीब्रह्मयामलग्रन्थं पठति

मातृमण्डलसंबोधात्-
संस्कारात्तपसः प्रिये ॥ ५७ ॥
ध्यानाद्योगाज्जपाज्ज्ञाना-
न्मन्त्राराधनतो व्रतात् ।
संप्राप्यं कुलसामान्यं
ज्ञानं कौलिकसिद्धिदम् ॥ ५८ ॥

मातृणां – चक्षुरादिकरणेश्वरीणां, मण्डलस्य सम्यक् वृत्तिरूपतापरिहारेण शक्तिरूपतया परिज्ञानान्मातृमण्डलकर्तृकात् प्रियमेलापादिक्रमेण संबोधनाद्वा – इत्येवमाद्यैरनन्तैर्निमित्तैः

'.................... कुलमुत्पत्तिगोचरम् ।'

इत्याद्युक्त्या कुले – स्वस्वरूपादतिरेकायमाणतया उत्पत्स्यमाने प्रमातृप्रमेयात्मनि विश्वत्र, सामान्यम् – अनुगामितया वर्तमानम् , अन्यथा

पं० १४ ख० पु० उत्पाद्यमाने इति पाठः ।

हि अस्य भानमेव न भवेदिति भावः, अत एव कुले – आत्मनि भवा, येयं सिद्धिः, तां ददाति – स्वात्ममात्ररूपतया प्रस्फुरत्परप्रमात्रात्म ज्ञानमवश्यं प्राप्यते इत्यर्थः, संस्कारात् – दीक्षादेः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

ननु यद्येवं, तर्हि अकल्पितकल्पकस्य गुरोः भावनादिहेतुजालनिष्ठत्वं नाम मुख्यं लक्षणम्? इत्याशङ्कां ग्रन्थकृदेव स्वयं निराकर्तुमाह

तत्त्वज्ञानात्मकं साध्यं
यत्र यत्रैव दृश्यते ।
स एव हि गुरुस्तत्र
हेतुजालं प्रकल्प्यताम् ॥ ५९ ॥

यत् खलु स्वात्मलक्षणं सिसाधयिषितं परतत्त्वात्मकं पूर्णं ज्ञानं तदेव नाम यत्र क्वापि दृश्यते स एव अकल्पितकल्पको गुरुर्ज्ञेयो, न पुनर्भावनादिहेतुजालमात्रनिष्ठः, एवं हि

'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति ।'

इतिन्यायेन भावनादौ हेतुजाले कृतप्रयत्नोऽपि कश्चित् कदाचित् पूर्णं ज्ञानं नासादयेत् — इति कथमिव अस्य अकल्पितकल्पकत्वं स्यात्, एवं-रूपस्य ज्ञानस्य कादाचित्कत्वात् केनचित् कारणेन भाव्यम्, इत्युक्तं 'तत्र हेतुजालं प्रकल्प्यताम्' इति, तेनेह फलभूतं पूर्णज्ञानवत्त्वमेवास्य मुख्यं लक्षणम् — इति तात्पर्यार्थः ॥५९॥

न च एतदस्मदुपज्ञमेव, इत्यर्थद्वारेण संवादयति

तत्त्वज्ञानादृते नान्य-
लक्षणं ब्रह्मयामले ।

'भावितः सुप्रसन्नात्मा जपहोमरतः सदा ।'

इत्यादि अन्यत् शास्त्रान्तरोक्तं लक्षणमपहाय, तत्त्वज्ञानमेव मुख्यं लक्षणं श्रीब्रह्मयामले गुरोरुक्तम्, इति वाक्यार्थः, यदभिप्रायेणैव

---

पं० ५ ख० पु० केनचित्प्रकारेण वा भाव्यमिति पाठः ।

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

ननु भावनादौ कृतप्रयत्नस्यापि न किंचित्फलं जायते इत्येतदागमेन विरुध्यते? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य पुनरपि अर्थद्वारेण संवादयति

तत्रैव चोक्तं सेवायां
कृतायामविकल्पतः ॥ ६० ॥
साधकस्य न चेत्सिद्धिः
किं कार्यमिति चोदिते ।
आत्मीयमस्य संज्ञान-
क्रमेण स्वात्मदीक्षणम् ॥ ६१ ॥
सस्फुरत्वप्रसिद्ध्यर्थं
ततः साध्यं प्रसिध्यति ।

तत्र—श्रीब्रह्मयामले एव च—अविकल्पतः,

'........................ संशयानो न सिद्ध्यति ।'

इत्याद्युक्त्या, विकल्पः—संशयः, तदभावात्—

स्वपक्षदार्ढ्येन स्वकल्पाम्नातायां लक्षजपादि-रूपायां सेवायां कृतायामपि, साधकस्य केनापि वैगुण्येन, तत्फलभूता मनीषितार्थसंपत्तिलक्षणा सिद्धिः, न चेत्स्यात्, तदा किं तेन कार्यम्, इति भगवत्या चोदिते – प्रश्निते सति, आत्मीयम् – आत्मसंबन्धि, सं सम्यक् – संशयविपर्यासरहितम् 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्येवमात्म, यत् ज्ञानं, तस्य क्रमो – यथायथमभ्यासातिशयात् परधाराधिरोहः, तेन सस्फुरत्वप्रसिद्ध्यर्थम्, अर्थात् – जप्यस्य मन्त्रादेः स्वरूपोत्तेजनाय निमित्तान्तरभूतं, स्वात्मनो दीक्षणम् – परसंविद्रूपतया प्रत्यवमर्शनं नाम, भगवतोत्तरमुक्तं, येन सिसाधयिषितं वस्तु साधकस्य प्रसिद्ध्यति – फलपर्यन्तां निष्पत्तिं यायादित्यर्थः ॥६०॥ ६१-॥

अत्रैव तात्पर्यार्थं व्याचष्टे

अनेन स्वात्मविज्ञानं

सस्फुरत्वप्रसाधकम् ॥ ६२ ॥

उक्तं मुख्यतयाचार्यो
　　भवेद्यदि न सस्फुरः ।

अनेन—श्रीब्रह्मयामलग्रन्थेन, साधकस्य स्वात्मीयमेव विज्ञानं जप्यस्य मन्त्रादेः सस्फुरत्वे निमित्तमुक्तं, यदि नाम मुख्यत्वेनाचार्यः परमेश्वरैकात्म्यायोगात् सस्फुरो न स्यात्, तेन सस्फुरे पुनराचार्ये सति तमेव स्वात्मनि दीक्षां कारयेत्, येनास्य मन्त्रोऽपि सस्फुरः स्यात् ॥६२॥

ननु आचार्यः सस्फुरो भवतु अस्फुरो वा, किमनेन नः प्रयोजनं, तमन्तरेण पुनः स्वयमेव दीक्षा न भवेत्, एवं हि आगमविरोध आपतेत्, तदपव्याख्यानमेतत्? इत्याशङ्क्याह

तत्रैव च पुनः श्रीम-
　　द्रक्ताराधनकर्मणि ॥ ६३ ॥
विधिं प्रोक्तं सदा कुर्वन्-
　　मासेनाचार्य उच्यते ।

पक्षेण साधकोऽर्धार्धात्-
　　पुत्रकः समयी तथा ॥ ६४ ॥

तत्रैव — श्रीब्रह्मयामले, पुनः — समनन्तरोक्त-प्रश्नोत्तरानन्तरं, श्रीमद्रक्तायाः — श्रीचण्डिकाया विधाने, प्रकर्षेण—गुर्वादिनैरपेक्ष्येण, उक्तं विधिं— तन्मन्त्रग्रहणजपध्यानादिरूपं, सदा — प्रत्यहं, साधकः कुर्वन्, मासेन अभिषेकादिपरिहारेण 'आचार्यः' उच्यते — तदुचितमधिकारमारभमाणो न प्रत्यवैतीत्यर्थः। एवं पक्षेण 'साधकः' सार्धेन — दिनसप्तकेन 'पुत्रकः' पादोनेन — दिनचतुष्टयेन 'समयी' इति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

ननु दीक्षामन्तरेण कथं समय्यादिरूपत्वं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

दीक्षयेज्जपयोगेन
　　रक्तादेवी क्रमाद्यतः।
गुरोरलाभे प्रोक्तस्य
　　विधिमेतं समाचरेत् ॥ ६५ ॥

दीक्षयेदित्यनेन सर्वमेव गुरुकर्तृकं कर्मोपलक्षितम्, यदुक्तम्

'जुहोति जपति प्रेद्धे सर्वत्रैवात्र चण्डिका ।'

इति । क्रमादिति—समय्यादिरूपात् । ननु यद्येवं तर्हि गुरुप्रशंसाभिधायिनो निखिलस्यैव आगमस्यानर्थक्यमापतेत्? इत्याशङ्क्याह 'गुरोरलाभे' इत्यादि, प्रोक्तस्य—अकल्पितकल्पकादेः सस्फारस्य गुरोरलाभे सति, एतं—समनन्तरोक्तं, स्वयमेव मन्त्रग्रहणादिरूपं विधिं समाचरेत्—अनुतिष्ठेत्, अन्यथा पुनराचार्यमेव सर्वं कारयेत्, इति भावः ॥ ६५ ॥

ननु यद्येवं

'स्वयं गृहीतमन्त्राश्च क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः ।'

इत्यादिना पुस्तकाधीतविद्यानां क्लेशभागित्वात्मा दोषः कस्मादन्यत्रोक्तः? इत्याशङ्क्याह

मते च पुस्तकाद्विद्या-
ध्ययने दोष ईदृशः ।

उक्तो यस्तेन तद्दोषा-
भावेऽसौ न निषिद्धता ॥ ६६ ॥

मते इति – श्रीसिद्धामते, यद्वक्ष्यति

'पुस्तकाधीतविद्याश्चेत्युक्तं सिद्धामते यतः ।'

इति । तेनेति – भगवता, ईदृश इति – समनन्तरोक्तः सस्फुरत्वाभावलक्षणः, पुस्तकावस्थिता हि मन्त्रा निर्वीर्या इति ततो गृहीतानां तेषां, न स्वसिद्धिसाधनाय निजं तेजः प्रस्फुरेत्, इति – पुस्तकाधीतविद्यानां सिद्ध्यभावात् क्लेशमात्रभागित्वमुक्तम्, यद्वक्ष्यति

'लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः ।
संकेतबलतो नास्य पुस्तकात्प्रथते महः ॥'

इति । स एव चेद्यदा दोषो न स्यात् तदा नायं कश्चिन्निषेधः, 'पुस्तकान्मन्त्रा नाध्येयाः' इति, पुस्तकाधीतानां हि मन्त्राणां समनन्तरोक्तया युक्त्या केषांचन निजं तेजः प्रस्फुरेत्, यद्वक्ष्यति

'ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते ।
ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति ॥'

इति ॥ ६६ ॥

एतदभिप्रायावेदकं च तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

मन्त्रद्रव्यादिगुप्तत्वे
फलं किमिति चोदिते ।
पुस्तकाधीतविद्या ये
दीक्षासमयवर्जिताः ॥ ६७ ॥
तामसाः परहिंसादि
वश्यादि च चरन्त्यलम् ।
न च तत्त्वं विदुस्तेन
दोषभाज इति स्फुटम् ॥ ६८ ॥

इह खलु

'कथितं गोपितं तेभ्यस्तस्माल्लेख्यं न पुस्तके ।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत अन्यथा न कदाचन ॥'

इति । तथा

'स्वमन्त्ररक्षणं यत्नात्सर्वदा कारयेत्सुधीः ।'

इत्यादि भगवदुक्तं बहुशोऽवधार्य, मन्त्रादीनां पुस्तकाद्यलिखनेन 'गोपने किं प्रयोजनम्'? इति देव्या प्रश्निते, भगवता 'पुस्तकाधीतविद्या' इत्यादिनोत्तरं दत्तं, मन्त्रणां हि पुस्तकादौ लिखने केचन 'दीक्षासमयवर्जिताः' अत एव 'तामसाः' तमो—बौद्धपौंस्नत्वेन द्विप्रकारमज्ञानं, तत्र भवा ज्ञानशून्याः, ततस्तानधीत्य 'परहिंसाद्यर्थं चरन्ति' न पुनस्तत् सिद्ध्येत्, यतस्ते मन्त्रादीनां तत्त्वं न जानते—गुरुमुखाभावत्, ततश्च स्फुटमेव तेषां निरयपातादिदोषभागित्वं स्यात्, यतस्ते पुस्तकाधीतत्वेन मन्त्राणां निर्वीर्यत्वात्, तत्तद्वश्याद्यारभमाणास्तत्सिद्ध्यभावात्, शास्त्रे स्वयं शिथिलितास्थाः सन्तः, परेषामपि तत्र अनादरमुत्पादयन्ति—इति शास्त्रप्रक्रियोत्सादे निमित्तत्वमासादयेयुः ॥ ६७-६८ ॥

अत्रैव वैषम्यात् पदयुगं व्याचष्टे

पूर्वं पदयुगं वाच्य-
मन्योन्यं हेतुहेतुमत् ।

अन्योन्यमिति—यतः पुस्तकाधीतविद्या अतो दीक्षासमयवर्जिताः, यतश्च दीक्षासमयवर्जिताः अतश्च पुस्तकाधीतविद्या इति ॥

एवमकल्पितकल्पकं गुरुमभिधाय कल्पितमपि अभिधातुमुपक्रमते

यस्तु शास्त्रं विना नैति
शुद्धविद्याख्यसंविदम् ॥ ६९ ॥
गुरोः स शास्त्रमन्विच्छु-
स्तदुक्तं क्रममाचरेत् ।

यः कश्चित् पुनः शास्त्रपरामर्शमन्तरेण सत्तर्कात्मिकां शुद्धविद्याख्यां संविदं नाभ्येति—यस्य स्वत एव सत्तर्को नोदियात्, स कस्यापि अकल्पितादेर्गुरोः सकाशात् शुश्रूषादिना शास्त्र-

मन्वेष्टुमिच्छुः सन् वृद्धव्यवहाराद्यधिगतं शास्त्रोक्तमेव 'इदं कृत्वा इदं कुर्यात्' इत्येवमात्मकं क्रममाचरेत्, येनास्य गुर्वाराधनक्रमेण शुद्धविद्योदयः स्यादिति ॥ ६९ ॥

तदाह

येन केनाप्युपायेन
गुरुमाराध्य भक्तितः ॥ ७० ॥
तद्दीक्षाक्रमयोगेन
शास्त्रार्थं वेत्त्यसौ ततः ।
अभिषेकं समासाद्य
यो भवेत्स तु कल्पितः ॥७१॥
सन्नप्यशेषपाशौघ-
विनिवर्तनकोविदः ।

इह खलु

'तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शांकरीम् ।'

इत्यादिशास्त्रोक्तक्रमेण प्रथमं गुरोरेव तावदा-

राधनं कार्यं, तच्च नोपायमन्तरेण भवेत् — इति- तराम् तत्स्वीकारे यतितव्यम्, स च नैकः — आराधनीयानामानैक्यात्, कश्चिद्धि शुश्रूषया, कश्चिद्धनेन, कश्चिच्च प्रतिविद्यादिना आराध्यते, इति 'येन केनाप्युपायेन' इति सामान्येनोक्तं — यस्य हि यथाराधनं सिद्ध्यति तस्य तथा कार्य- मिति भावः, तच्च न दृष्टवत्कार्यार्थमेव कार्यम्, इत्युक्तं 'भक्तित' इति, आराधिताच्च तस्माद्दी- क्षाक्रमसंबन्धो भवेत् — येनास्य शास्त्राधिगमः सिद्ध्येत्, अन्यथा हि शास्त्रश्रवणमात्रेऽपि अधि- कारो न स्यात्, तदधिगमे पुनः का नाम संभा- वनेति भावः, यदुक्तम्

'अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छिवसंहिताम् ।'

इति । तदनन्तरं च

'संहितापारगस्येह सेकः कार्योऽन्यथा नहि ।'

इत्याद्युक्तदृशा 'अभिषेकम्' अर्थात् तस्मादेव गुरोः सम्यक् पूर्णज्ञानादिरूपत्वेनासाद्य, यः स-

---

पं० १३ ख० पु० नोच्चरेच्छास्त्रपद्धतिमिति पाठः ।

र्येत्रैव परानुग्रहादावधिकृतो भवेत्, स पुनराचार्यान्तरेण निष्पादितत्वात् कल्पितोऽपि सन्, अशेषस्य पाशौघस्य, विशेषेण — निःसंस्कारं, निवर्तने कोविदः — प्रगल्भते इत्यर्थः। अनेन कल्पितत्वेऽपि अस्य फलतः कश्चिदकल्पितान्न विशेषः — इत्यावेदितम्। परमेश्वर एव हि आचार्यमूर्तिमाश्रित्य अशेषपाशौघविनिवर्तनं कुर्यात्, तदुक्तम्

'यस्मान्महेश्वरः साक्षात्कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः॥'

इति। तदत्र किं वस्तुतः कल्पिताकल्पितविभागेन इति भावः॥ ७०-७१-॥

एवमकल्पितत्वेऽपि कस्यचिद्यथा स्वात्मज्ञानपारिपूर्ण्याय भावनादिना कल्पितत्वमपि संभवेदिति 'अकल्पितकल्पकः' उक्तः, तथा कल्पितस्यापि गुर्वाद्यनपेक्षमेव स्वप्रतिभाबलात् क्वचिच्छास्त्रेऽधिगमो जायते — इत्यकल्पितत्वं

भवेत्, इति कल्पिताकल्पिताख्यं गुरुमप्यभि-
धातुमाह

यो यथाक्रमयोगेन
कस्मिंश्चिच्छास्त्रवस्तुनि ॥ ७२ ॥
आकस्मिकं व्रजेद्बोधं
कल्पिताकल्पितो हि सः ।

यः कश्चित्कल्पितो गुरुः, कस्मिंश्चित् — लोको
त्तरे शास्त्रीये पारमार्थिकप्रमेयरूपे वस्तुनि, आ-
कस्मिकं — गुर्वाद्यनपेक्षमेव, यथाक्रमयोगेन —
यथावस्तु, बोधमासादयेत्, स कल्पितत्वेऽपि
स्वयमेव बोधप्रवृत्तेरकल्पितः ॥ ७२- ॥

ननु कल्पितस्य गुरोः क्वचिदंशे यद्यकल्पि-
तत्वं भवेत् तावता किम्? इत्याशङ्क्याह

तस्य योऽकल्पितो भागः
स तु श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥ ७३ ॥

---

पं० ४ क० ख० पु० शास्त्रवर्त्मनि इति पाठः ।

उत्कर्षः शुद्धविद्यांश-
तारतम्यकृतो यतः ।

श्रेष्ठतमत्वे शुद्धविद्यातारतम्यकृत उत्कर्षो हेतुः—शुद्धविद्याया एव तरतमभावो हि अकल्पितत्वादौ निमित्तमिति भावः ॥ ७३- ॥

ननु 'कल्पितस्याकल्पितस्य वा गुरोः फले न कश्चिद्विशेष' इति समनन्तरमेवोक्तं, तदकल्पितस्य कल्पितापेक्षया श्रेष्ठतमत्वे किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

यथा भेदेनादिसिद्धा-
च्छिवान्मुक्तशिवा ह्यधः ॥ ७४ ॥
तथा सांसिद्धिकज्ञाना-
दाहृतज्ञानिनोऽधमाः ।
तत्संनिधौ नाधिकार-
स्तेषां मुक्तशिवात्मवत् ॥ ७५ ॥

किं तु तूष्णीं-स्थितिर्यद्वा
कृत्यं तदनुवर्तनम् ।

यद्यपि भेदेश्वरवादे

'.............................. परेह शिवसमता ।

इत्याद्युक्तेः अणूनां सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वाद्यभिव्यक्तेरविशेषात् 'शिवसाम्यं नाम मुक्तिरिष्यते' तथापि मुक्ताणुभ्योऽस्यास्ति विशेषो – यदयमनादिसिद्ध इति, तेषां पुनः सर्वज्ञत्वादि तदुपाधिकम्, इति यथा सर्वज्ञत्वाद्यविशेषेऽपि तस्मान्मुक्तशिवा न्यूनाः, तथैव अकल्पितादपि गुरोः कल्पितादयः, अस्य हि स्वत एव प्रवृत्तेरनुपाधिकं ज्ञानम्, एषां पुनः परोपाधिकमिति, अत एव यथा परशिवसंनिधौ मुक्तशिवानां सृष्ट्याद्यधिकारित्वे नाधिकारः, तथैव सांसिद्धिकस्य गुरोः संनिधाने कल्पितादीनां दीक्षादौ, इति युक्तमुक्तम् 'अकल्पितः श्रेष्ठतमः' इति । ननु यद्येवं तत् किं तत्संनिधौ मुक्ताणु-

वत् कल्पितादयोऽपि किंचित् कुर्वन्ति न वा? इत्याशङ्क्योक्तं 'किं तु तूष्णींस्थितिः' इत्यादि ॥ ७४ ॥ ७५- ॥

ननु इह स्वतः प्रवृत्ततर्कस्यापि अकल्पितस्य यन्नाम शास्त्रादिसापेक्षत्वं प्रागुक्तं, तत् किमस्य दूषणमुत भूषणम्? इत्याशङ्क्याह

यस्त्वकल्पितरूपोऽपि
संवाददृढताकृते ॥ ७६ ॥
अन्यतो लब्धसंस्कारः
स साक्षाद्भैरवो गुरुः ।

यः पुनरकल्पितरूपोऽपि गुरुः स्वानुभवमात्रगोचरस्य स्वयंप्रवृत्तस्य ज्ञानस्य परत्रापि तथोपलभ्यमानत्वात्मना संवादनेन 'एवमेतत् नान्यथा' इत्येवं-रूपं दार्ढ्यं कर्तुम्, अन्यतो—गुरुशास्त्रादेः समस्तात्, गुरुतः शास्त्रतो वा व्यस्तात्, प्राप्तातिशयः स स्वात्मनि नैराका-

ङ्क्ष्येण 'साक्षाद्भैरवः' – पूर्णपरसंविदाविष्ट इत्यर्थः ॥ ७६- ॥

ननु कथं संवादमात्रादेव एतत्स्यात्? इत्याशङ्क्याह

यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञ-
　गुरुप्रज्ञानुशीलनात् ॥ ७७ ॥
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं
　पूर्णत्वाद्भैरवायते ।

यतः शास्त्राधिगमक्रमेण शास्त्रज्ञगुरुप्रज्ञाया अनुशीलनाच्च 'इत्थमिदं, नानित्थम्' इत्येवंरूपात् पर्यालोचनात् ससंवादं सत् ज्ञानम् आत्मनि संजातप्रत्ययम् 'एवमेवैतत्, नान्यथा' इत्येवंनिश्चयोत्पादात् दार्ढ्यं प्राप्तम्, अत एव नैराकाङ्क्ष्यात् पूर्णं सत् भैरवायते – निराशंसानुत्तरपरज्ञानरूपतया प्रस्फुरति, इत्यर्थः ॥ ७७- ॥

अत एवागमोऽप्येवम्, इत्याह

तेन श्रीकिरणोक्तं यद्-
गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ॥७८॥
त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञान-
मिति यच्च निशाटने ॥
तत्संघातविपर्यास-
विग्रहैर्भासते तथा ॥ ७९ ॥

त्रिप्रत्ययमिति, यदुक्तं तत्र

'त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमात्मा शास्त्रं गुरोर्मुखम् ।'

इति, तेनाकल्पितस्यापि गुर्वाद्यपेक्षणेन हेतुना, श्रीकिरणादौ यत् परतत्त्वज्ञाने गुर्वादि कारण-त्रयमुक्तं तत् संघातादिरूपत्वेन, तथा — उक्तेन प्रकारेण, भासते — सर्वस्यैव अनुभवसिद्धतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, संघातः — समस्तत्वं, विपर्यासः— उक्तक्रमान्यथाभावः, कस्यचित् स्वतः प्रवृत्तेऽपि ज्ञाने गुरुशास्त्राभ्यां पूर्णता भवेत्, इति भावः,

विग्रहो — व्यस्तत्वं, — कस्यचिद्धि गुर्वादिभिरेक- कैरेव ज्ञानं जायते, इत्याशयः ॥ ७८ ॥ ७९- ॥

ननु यदि नाम परतत्त्वज्ञाने गुर्वादीनां स- मस्तानामेव कारणत्वं, तत् कथं व्यस्तानाम- प्युक्तं, व्यस्तत्वेऽपि वा एकस्मादेव कार्यसिद्धेः किमन्येन ? इत्याशङ्क्याह

करणस्य विचित्रत्वा-
　　द्विचित्रामेव तां छिदम् ।
कर्तुं वासीं च टङ्कं च
　　क्रकचं चापि गृह्णते ॥ ८० ॥
तावच्च छेदनं ह्येकं
　　तथैवाद्याभिसंधितः ।

तक्षादयो हि करणस्य छिदिक्रियायां साध- कतमस्य वास्यादेर्विचित्रत्वात् तथाविधामेव तां छिदं — द्वैधीभावं कर्तुं समस्तमसमस्तं वा तदु- पाददते, इति वाक्यार्थः । लोके हि सरले यथा

यथा महति दारुणि वास्यादिभिर्व्यस्तैरवच्छेदः क्रियते वक्रकोटरादौ च समस्तैरित्याशयः। ननु करणवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्ये नास्ति विवादः, तत् वास्यादेः करणस्य भेदाच्छिदिक्रियापि भिन्नभिन्नैव, इति—व्यस्तैः समस्तैर्वा कथमेभिरेकमेव कार्यं क्रियते? इत्याशङ्क्याह 'तावच्च' इत्यादि, तावत्—तत्तद्वास्यादिकरणनिर्वर्त्यमियत् यच्छेदनं तद्ध्येकं, न भिन्नभिन्नं, तथैव चिच्छिदिषात्मन एकस्यैव आद्यस्याभिसंधानस्य भावात्—परामर्शभेदादेव हि परामृश्यभेदो भवेदिति भावः, एवमेकस्यामपि छिदिक्रियायां वास्यादीनां समस्तानां व्यस्तानां च करणत्वे न कश्चिद्दोषः॥ ८०-॥

एतदेव प्रकृते योजयति

इत्थमेव मितौ वाच्यं
करणस्य स्वकं वपुः॥ ८१॥

न स्वतन्त्रं स्वतो मानं
कुर्यादधिगमं हठात् ।
प्रमात्राश्वासपर्यन्तो
यतोऽधिगम उच्यते ॥ ८२ ॥
आश्वासश्च विचित्रोऽसौ
शक्तिपातवशात्तथा ।
प्रमितेऽपि प्रमाणाना-
मवकाशोऽस्त्यतः स्फुटः ॥ ८३ ॥

करणस्य – गुर्वादेः, स्वकम् – अनन्यसाधारणं, वपुः – स्वरूपं, तर्कज्ञानात्मिकायां मितौ, इत्थम् – उक्तेन व्यस्तसमस्तात्मना प्रकारेणैव वाच्यं, यद्यपि गुर्वादेरेकैकस्यापि तत्त्वाधिगमेऽस्ति साधकतमत्वं, तथापि यावता प्रमातुराकाङ्क्षा विरमेत्, तावदेव एषां व्यस्तानां समस्तानां वा विनियोगः, इत्याकूतम्, अत एव न मानं नाम मानत्वात्स्वतन्त्रम् इत्येव बलात्कारेण प्रमात्रपेक्षां विना अधिगमं विदध्यात्, अधि-

गमो हि नाम 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इत्येवंपर्यवसानः प्रमातुराश्वासः, स एव चेन्नोत्पन्नः को नाम अधिगमार्थः, स च आश्वासः शक्तिपातस्य तीव्रतमत्वादिभेदात् तथा तीव्रतमत्वादिनैव क्रमेण विचित्रो, येन—गुर्वादेर्व्यस्तात् समस्ताद्वा उत्पद्यते इत्याशयः, अत एव बहिः प्रमितेऽपि अर्थे प्रमातुराश्वासानुत्पादात् प्रमाणान्तराणामस्ति निर्बाध उपयोगः ॥ ८१ ॥

॥ ८२-८३- ॥

ननु अर्थालोकादिरूपा सामग्री चेन्न संघटिता, तत् ज्ञानमेव नोत्पद्यते, इति कस्तत्र अधिगमार्थः, अथ चेत् संघटिता, तत् प्रथमाक्षसंनिपात एव प्रत्ययान्तरानपेक्षिणः प्रमातुरनधिगतार्थविषयोऽधिगमः स्यात्, एवमपि उत्तरकालं धारावाहीनि विज्ञानानि तत्र चेत्प्रवर्तन्ते, तत् प्रवर्तन्तां नाम, को दोषः, तेषां पुनस्तत्रैव प्रमाणत्वं न भवेत्—आद्येनैव ज्ञान-

क्षणेन अपूर्वस्यार्थस्य प्रकाशनात्, अपूर्वार्थ-प्रकाशत्वमेव हि नाम प्रमाणत्वम्, यदाहुः

'अनधिगतविषयं प्रमाणम्, अज्ञातार्थप्रकाशो वा ।'

इति, प्रमातुरपि एतावतैव फलवत्त्वं 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इत्येवंसंतोषाभिमानात्, न च एतत् औत्तरकालिकानां धारावाहिनां विज्ञानानां संभवति, इति कथमुक्तं 'प्रमितेऽपि प्रमाणाना-मवकाशः' इति? इत्याशङ्क्याह

दृष्ट्वा दृष्ट्वा समाश्लिष्य
चिरं संचर्व्य चेतसा ।
प्रिया यैः परितुष्येत
किं ब्रूमः किल तान्प्रति ॥८४॥

दृष्ट्वा दृष्ट्वेति—आभीक्ष्ण्येनाश्लेषसंचर्वणयोरपि असौ अर्थाल्लभ्यते, चिरशब्दाद्वा—तेन रूपज्ञा-नात्मकैः स्पर्शज्ञानात्मकैस्तत्पृष्ठभाविविकल्पज्ञा-नात्मकैश्च शतशः प्रवृत्तैः प्रमाणैः प्रमितायां

प्रियायां येषामाश्वासलक्षणः परितोषो जायते, तान् प्रति किं ब्रूमः – प्रमात्राश्वासपर्यन्तस्याधिगमस्य आद्येनैव ज्ञानक्षणेन उत्पादेऽनुभवविरोधान्न किंचित्, इति यावत्, अतश्च

'एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥'

इत्याद्युक्तमयुक्तमेव, इति भावः, तेन

'यत्रापि स्यात्परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः ।
नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावधृतस्तथा ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या पूर्वप्रमाणानधिगतः कश्चिदपूर्व एवांशः प्रमाणान्तरैरवश्यमधिगम्यते, येन पर्यन्ते प्रमातुः समाश्वासोत्पादः स्यात् । यत् पुनरन्यैः

'नैवाधिकपरिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैर्ध्रुवम् ।
धारावाहिषु बोधेषु कोऽधिकोऽर्थः प्रकाशते ॥'

इत्याद्युक्त्या गृहीतग्राहिणामपि धारावाहिनां

पं० ९ ग० पु० सोऽर्थो वावधृत इति, तदपेक्षया पं० १० टीकायामपि प्रमाणाधिगत इति पाठान्तरं च वर्तते ।

विज्ञानानां प्रामाण्यमुक्तं, तन्न युक्तं – व्यर्थत्वादिदूषणशतोपनिपातात्, तस्मादेकस्मिन्नपि अर्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्त्यात्मनि संप्लवेऽपि नाधिगतस्यैव अर्थस्याधिगमः, इति – न प्रमाणान्तराणां निष्प्रयोजनत्वं, तैरपि – अपूर्वस्यार्थस्य प्रकाशनात्, यद्येवं तदौत्तरकालिकानां धारावाहिनां विज्ञानानां स्वारसिक्यां प्रवृत्तावपूर्वार्थप्रकाशो न कदाचिदपि विरमेत्, इत्यनवस्थापि न स्यात् – प्रमात्राश्वासलक्षणस्य अनुलङ्घनीयस्यावधेर्भावात्। एवमपि एकस्मिन्नेवार्थे प्रमातुरनेकैः प्रमाणैः प्रवृत्तैः संभूयापूर्वतया प्रकाशो जायते, – इत्येषां पूर्वापेक्षमुत्तरेषां प्रामाण्यम्, उत्तरापेक्षं च पूर्वेषाम् – इत्यन्योन्याश्रयतापि न स्यात्, अत्रान्योन्यापेक्षस्यैव प्रामाण्यस्याभावात्, अपूर्वार्थप्रकाशाधीनं हि ज्ञानानां प्रामाण्यम्, स चापूर्वार्थविषयः प्रकाशः सर्वेषामेव पृथक्पृथगवस्थितः, इति – को नाम अन्योन्याश्रयताया अवकाशः, संप्लवो हि धर्म्यभिप्रायेणो-

च्यते ‘एकस्मिन्नेवार्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्तिः’ इति, वस्तुतः पुनरनेकधर्मविशेषिते धर्मिणि केनचित् कश्चिद्धर्मविशेषोऽपूर्वतया प्रकाशते, यद्वशात्–तत्तद्धर्माधिगतिपुरःसरीकारेण पूर्णेन रूपेण धर्मिणमधिगम्य प्रमातुः पर्यन्ते समाश्वासो जायते इति ॥ ८४ ॥

तदेतदाह

इत्थं च मानसंप्लुत्या-
मपि नाधिगते गतिः ।
न व्यर्थता नानवस्था
नान्योन्याश्रयतापि च ॥८५॥

इदानीं तर्कतत्त्वानुषक्तं गुरुसतत्त्वमुपसंहरन् तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं योगाङ्गानुपयोगित्वमपि वक्तुमुपक्रमते

एवं योगाङ्गमियति
तर्क एव न चापरम् ।

अन्तरन्तः परामर्श-
पाटवातिशयाय सः ॥ ८६ ॥

एवमियति — गुरुसतत्त्वात्मनि प्रमेये प्रतिपादिते, तर्क एव उत्तमं योगाङ्गं, न पुनरपरं यमादि किंचित्, इति पर्यवसितम्, यतः स एवान्तरन्तर् — यथायथं संवित्संनिकर्षेण शुद्धविद्यात्मनः परामर्शस्य पाटवातिशयं जनयेत्, येन अन्ते योगिनः परसंवित्साक्षात्कारः स्यात्, तदुक्तं

'लब्धभूमेर्विरक्तस्य तज्जयोपायपेशलः ।
ऊहो नाम वितर्कोक्तिः प्रविचारेक्षणात्मकः ॥
यद्यत्सातिशयं स्थानं भोगेन समधिष्ठितम् ।
विनश्वरेण संदेहमूलेन सुमलीमसम् ॥
किमनेन विकल्पोक्तिव्यवहारात्मना त्वलम् ।
अस्मादन्यद्विशिष्टेन भोगेन परिपूरितम् ॥'

इत्यादि ।

'पदं पदवतां श्रेष्ठं स्वतेजोगूढलोचनम् ।
तदेकं निर्वितर्कं स्यात्प्रभोः स्थानमनातुरम् ॥
शेषाणि सवितर्काणि संत्याज्यानि मुमुक्षुभिः ।
न वितर्कं विना तानि त्यक्तुं योगप्रयोक्तृभिः ॥

पं० १७ ख० पु० अनुत्तरमिति पाठः ।

शक्यन्ते मुनिशार्दूल तस्मात्तर्कोऽपि युज्यते ।
योगिनोऽङ्गत्वमापन्नः स्वोपकाराय चेष्टते ॥'

इत्यन्तम् ॥ ८६- ॥

ननु समानेऽपि योगाङ्गत्वे तर्कस्यैवोत्तमं योगाङ्गत्वं, न पुनर्यमादीनामित्यत्र किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

अहिंसा सत्यमस्तेय-
ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
इति पञ्च यमाः साक्षा-
त्संवित्तौ नोपयोगिनः ॥ ८७ ॥
तपःप्रभृतयो ये च
नियमा यत्तथासनम् ।
प्राणायामाश्च ये सर्व-
मेतद्बाह्यविजृम्भितम् ॥ ८८ ॥

प्रभृतिना शौचादय उक्ताः, यदुक्तम्

'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।'

इति, एवमादयः सर्वे संवित्तौ साक्षान्नोपयोगिनः इति संबन्धः, साक्षाद्ग्रहणेन पारम्पर्येण पुनर्येषामुपयोगित्वं भवेदपि नाम—इति सूचितम्, एषां साक्षादनुपयोगित्वे हेतुः—'सर्वमेतद्ग्राह्यविजृम्भितम्' इति ॥ ८७ ॥ ८८- ॥

न चैतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धं, यावदागमेनापि, इत्याह

श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं
बोधमात्रे शिवात्मके ।
चित्तप्रलयबन्धेन
प्रलीने शशिभास्करे ॥ ८९ ॥
प्राप्ते च द्वादशे भागे
जीवादित्ये स्वबोधके ।
मोक्षः स एव कथितः
प्राणायामो निरर्थकः ॥ ९० ॥

प्राणायामो न कर्तव्यः
शरीरं येन पीड्यते ।
रहस्यं वेत्ति यो यत्र
स मुक्तः स च मोचकः ॥ ९१ ॥

चित्तस्य चेत्यग्रासीकरणक्रमेण चेतयितरि यः प्रलयो–विश्रान्तिः, स एव अनन्यगमनात्मा बन्धः, तेन शशिसहिते भास्करे–प्राणापानप्रवाहे प्रलीने, मध्यधामलयादुच्छिन्नस्ववाहे, अत एव जीवः–उदान एव आदित्यः तत्तत्प्रमेयादिदाह्यवस्तूपादानात् अग्निः, तस्मिन् मध्योर्ध्ववाहक्रमेण द्वादशान्तं प्राप्ते सति–प्रमाणप्रमेयव्यवहारोच्छेदेन प्रमातर्येव परां काष्ठामधिरूढे, निःश्रेयसात्मपरश्रेयोरूपे स्वबोधके स्वप्रकाशे बोधमात्रे अर्थादुदिते, यः कश्चिदनुभवविशेषः स एव मोक्षः कथितः,

'शशिभास्करसंयोगाज्जीवस्तन्मात्रतां व्रजेत् ।
अत्र ब्रह्मादयो लीना मुक्तये मोक्षकाङ्क्षिणः ॥'

इत्यादिना तत्रैव प्रागुपदिष्टो, न तु दर्शनान्तरवन्निमित्तान्तरसमधिगम्यः, अत एव रेचकादिरूपः प्राणायामो निरर्थकः—तेन न कश्चिन्मोक्षलक्षणोऽर्थः सिद्ध्यति इत्यर्थः। एवं भगवता प्रश्निते भगवतीप्रश्नार्थमेव सिद्धान्तीकर्तुम्

'सत्यमेतन्महाप्राज्ञ प्राणायामो न कारणम्।'

इत्युपक्रम्य

'प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीड्यते।'

इत्यादिना परपक्षे बाधकं प्रमाणमुपन्यस्य स्वपक्षे साधकं प्रमाणं दर्शयति 'रहस्यं वेत्ति यो यत्र' इत्यादि, रहस्यं—प्रमाणाद्यप्रवृत्तेः सर्वजनागोचरं प्रमातृमात्रसतत्त्वं परं तत्त्वं, योऽभिजानाति—साक्षात्कुर्यात्, स स्वयं मुक्तः सन्, अन्येषामपि मोचकः, प्राणायामस्य आनर्थक्याभिधाने यमादीनामपि दण्डापूपीयन्यायेन तत् अर्थसिद्धम्, इति पृथक् नोक्तम्, 'बोधमात्रे शिवात्मके' इत्यनेन पुनः प्राक्

पटलद्वयोक्तमर्थजातं संक्षिप्योपाक्षिप्तम् ॥ ८९ ॥
॥ ९० ॥ ९१- ॥

ननु यमादि यदि बाह्यविजृम्भितत्वात् न संवित्तावुपयोगि, तदस्तु, को दोषः, प्रत्याहारादि पुनर्बाह्यात्प्रत्यावृत्तं सत्, अन्तरेव लब्धप्ररोहम्, इति तदपि कथं न तत्रोपयुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

प्रत्याहारश्च नामाय-
मर्थेभ्योऽक्षधियां हि यः ।
अनिबद्धस्य बन्धस्य
तदन्तः किल कीलनम् ॥ ९२ ॥
चित्तस्य विषये क्वापि
बन्धनं धारणात्मकम् ।
तत्सदृग्ज्ञानसंतानो
ध्यानमस्तमिता परम् ॥ ९३ ॥

यदा तु ज्ञेयतादात्म्य-
मेव संविदि जायते ।
ग्राह्यग्रहणताद्वैत-
शून्यतेयं समाहितिः ॥ ९४ ॥

अयं हि नाम प्रत्याहारो — यदर्थेभ्यो रूपादिभ्यः प्रत्याहृतानां चक्षुरादीन्द्रियज्ञानानाम् अन्तः कीलनं — चित्तस्वरूपानुकारायमाणतया स्वात्मायत्ततासादनम्, यदुक्तम्

'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।' ( यो० सू० २—५४ )

इति, तदेव च अनिबद्धस्य

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का ।'

इत्यादिन्यायेन अलब्धप्ररोहस्यापि बन्धस्य, कीलनं — दार्ढ्यापादनम् 'परस्या हि संविदः स्वस्वातन्त्र्यात् गृहीतसंकोचाया देशाद्यवच्छिन्नत्वं नाम बन्धः' स एव चात्र कुतश्चित् प्रत्या-

हृतानामिन्द्रियाणां कुत्रचिदवस्थापनादुपोद्बलीकृतः, इति कथं नाम प्रत्याहारादेः संवित्साक्षात्कारायोपयोगः—व्यापिकाया हि संविदः कथं नाम कुत्रचिदेवोपलम्भो भवेत् इति भावः, यदुक्तम्

> 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्रैव धारयेत् ।
> चलित्वा कुत्र गन्तासि सर्वं शिवमयं यतः ॥'

इति । एवं धारणादावपि अवसेयम्, तत्र हि कन्दादौ नियत एव देशे 'चित्तस्य बन्धो रूपम्' यदुक्तम्

> 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।' (यो० सू० १–३)

इति । ध्यानेऽपि सजातीयानामेव ज्ञानानां प्रवहद्रूपत्वं नाम रूपं, न विजातीयानाम्, इत्यत्र नियताकारावच्छिन्नत्वम् यदुक्तं

> 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।' (यो० सू० ३–२)

इति, अत एव 'अस्तमिता परम्' इत्युक्तम् । समाधावपि ज्ञानज्ञेयाख्यरूपद्वयतिरस्कारेण ध्ये-

यात्मज्ञेयमात्रप्रतिभास एव रूपम्, इत्यत्र नियत एवाकारोऽवच्छेदकः, यदुक्तम्

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।' (यो० सू० ३–३)

इति ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

ननु यमादीनां पञ्चानामपि बहिरङ्गत्वात् यदि संवित्तौ नोपयोगः, तत् तावदास्ताम्

'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।' (यो० सू० ३–७)

इति तेषां किमिति नाम न तत्रोपयोगः? इत्याशङ्क्याह

तदेषा धारणाध्यान-
समाधित्रितयी पराम्।
संविदं प्रति नो कंचि-
दुपयोगं समश्नुते ॥ ९५ ॥

'अनिबद्धस्य बन्धस्य तदन्तः किल कीलनम्' इत्याद्युक्त्या बन्धकत्वादेर्हेतोः ॥९५॥

ननु यद्येवं तद्यमादीनामष्टानामपि योगाङ्गानां किमर्थमभिधानम्? इत्याशङ्क्याह

योगाङ्गता यमादेस्तु
समाध्यन्तस्य वर्ण्यते ।
स्वपूर्वपूर्वोपायत्वा-
दन्त्यतर्कोपयोगतः ॥ ९६ ॥

अन्त्येति — अन्ते साधुः, अष्टानां यमादीनामङ्गानामुपेयत्वेन योग्य इति, यमा नियमानामुपायो, नियमाश्च आसनस्य — इत्यादिक्रमेण यमादीनामष्टानामपि पूर्वपूर्वोपायत्वेन योगाङ्गत्वं वर्णितम्, यथैषामुपेयरूपत्वात् पार्यन्तिके तर्के द्वारद्वारिभावेनोपयोगः स्यात्, यस्मादष्टाभिरपि एतैरङ्गैरुपस्कृतमतेर्योगिन एवं स्वपरामर्शो जायते, येनास्य झटित्येव स्वसंवित्तिसाक्षात्कारो भवेत्, यन्नाम अत्र योगस्य स्वदर्शनोक्तानि षडङ्गान्यपहाय पातञ्जलीयं यमाद्यङ्गाष्टकमुक्तं, तत्रायमाशयो — यत् क्वचिदपि एत-

दङ्गाष्टकातिरिक्तम् अन्यदङ्गान्तरं नास्ति, इति सर्वत्र तर्कस्यैवाङ्गान्तराण्युपायः, स च स्वसंवित्साक्षात्कारस्येति ॥ ९६ ॥

एतदेवोपपादयति

अन्तः संविदि रूढं हि
　तद्द्वारा प्राणदेहयोः ।
बुद्धौ वार्प्यं तदभ्यासा-
　न्नैष न्यायस्तु संविदि ॥९७॥

यतः खलु संविदि, अन्तर् — अभेदेन, जातप्ररोहं संवेद्यमानं सत् तद्यमादि, तद्द्वारा — संविन्मुखेनैव, नहि असंविदितं किंचिदपि वस्तु व्यवहारयोग्यं भवेत्, इति भावः, अभ्यासात् — पौनःपुन्येन सेवनात्, देहादावर्प्यं — देहादि यथा शनैः शनैः संस्कारपाटवेन तथैव प्ररोहमियादित्यर्थः, तद्यथा आसनादि देहे, प्राणायामादि प्राणे, प्रत्याहारादि बुद्धाविति । संवि-

दि पुनरेष देहादौ प्ररूढस्य यमादेः तद्द्वारेण अभ्यासबलात् प्ररोहोत्पादनात् स न्यायो न भवेत्, संविदि हि यमादेः प्ररोहः पटीयस्त्व-मुच्यते, स एव च नाम संस्कारः, न च संवित् संस्कार्या, संस्कारो हि अतिशयः, स च नास्यां संभवेत्—असंविद्रूपतापत्तेः, तेन पराद्वयरूपायां नित्योदितायामस्यां यमादेर्न किंचित्प्रयोजन-म्—इति तात्पर्यम्, यदुक्तम्

'अन्तः संविदि यन्निरूढमभितस्तत्प्राणधीविग्रहे
संचार्येत कथं तथेति घटते तत्राभ्युपायक्रमः।
ये त्वभ्यासपथेन संविदमिमां संस्कर्तुमभ्युद्यता-
स्ते किं कुत्र कथं नु वा विदधतामित्यत्र संदिह्महे ॥'

इति ॥ ९७ ॥

अथ वा देहादिद्वारेण संविद्यभिव्यक्तिलक्ष-णोऽतिशयो भवेत्, इत्याह

अथ वास्मद्दृशि प्राण-
धीदेहादेरपि स्फुटम्।

सर्वात्मकत्वात्तत्रस्थो-
ऽप्यभ्यासोऽन्यव्यपोहनम्॥९८॥

यद्वा पराद्वयदर्शने

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनति-
क्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इत्यादिनीत्या देहादेरपि संविद्रूपत्वेन सर्वात्मकत्वात्, तत्र प्राणादाववस्थितोऽपि यमादीनामभ्यासः, अन्येषां भेदनिष्ठानामयमादिरूपाणां हिंसादीनामपोहनम्, एवं हि यथात्मनि हिंसा न कार्या, तथा परत्रापि—इति स्वपरयोरात्मरूपतयावभासनेन भेदविगलनात् संविद एवाभिव्यक्तिर्भवेत्, इति भावः ॥ ९८ ॥

ननु यद्यत्र अभ्यस्यते तच्चेत् तत्र संस्कारदार्ढ्यात् पाटवातिशयं यायात्, इत्यस्तु को दोषः, तत् पुनरन्यव्यपोहनमाधातुं कथमुत्सहते—येन कार्यान्तरमपि उत्पद्येत? इत्याशङ्कां शमयितुं दृष्टान्तयति

देह उत्प्लुतिसंपात-
धर्मोज्जिगमिषारसात् ।
उत्प्लाव्यते तद्विपक्ष-
पाताशङ्काव्यपोहनात् ॥९९॥

उत्प्लुतिः—ऊर्ध्वं प्लवनं, तस्याः पौनःपुन्येन संभवात् यः संपातस्तद्धर्मा येयमुद्गन्तुमिच्छा तस्या रसः—पुनःपुनरभ्यासादादरातिशयः ततो हेतोः, यथा देहः तस्योज्जिगमिषारसस्य विपक्षभूतो यस्तिर्यगधश्च पातः तदाशङ्काया व्यपोहनमधिकृत्य, उत्प्लाव्यते—अङ्गश्रमादिनोर्ध्वप्लवने योग्यः क्रियते इत्यर्थः,—तेन ऊर्ध्वं प्लवनाभ्यासेन अधःपातादि देहे व्यपोह्यते—इत्यन्यदभ्यस्यतोऽपि अन्यनिवृत्तिर्भवेदिति भावः ॥ ९९ ॥

पं० ९ क० पु० तदाशङ्कया इति पाठः ।

एतदेव प्रकृते योजयति

गुरुवाक्यपरामर्श-
सदृशे स्वविमर्शने ।
प्रबुद्धे तद्विपक्षाणां
व्युदासः पाठचिन्तने ॥१००॥

एवं शिष्यस्य पाठचिन्तनादौ विषये पुनः पुनरभ्यासातिशयात्, गुरुवाक्यपरामर्शानुगुणे स्वपरामर्शे, उदितस्य स्वपरामर्शस्य, विपक्षभूतानां मौढ्यादीनामपि व्युदासः········॥१००॥

ननु गुरुवाक्यबलादेवास्य मौढ्यादीनामपि व्युदासः सिद्ध्येदिति अन्तर्गडुप्रायेण स्वविमर्शेनापि कोऽर्थः? इत्याशङ्क्याह

नह्यस्य गुरुणा शक्यं
स्वं ज्ञानं शब्द एव वा ।
धियि रोपयितुं तेन
स्वप्रबोधक्रमो ध्रुवम् ॥१०१॥

---

पं० ८ ख० पु० उचितस्येति पाठः ।

नहि नामास्य शिष्यस्य स्वबलादेव गुरुणा चिन्ताद्यात्म स्वं ज्ञानं, पाठ्यमानो वा स्वः शब्दः तद्बुद्धौ प्ररूढं कर्तुं शक्यं, यावदस्य स्वपरामर्शो न स्यात्, यतः स्वविमर्शं विना हि असौ गुरुवाक्यमवधारयितुमपि नालं, का पुनर्मौढ्यादिनिवृत्तौ संभावनापि भवेत्, तस्मान्निश्चितमेव स्वस्यात्मीयस्य शुद्धविद्यारूपत्वात् प्रकृष्टस्य परामर्शात्मनः बोधस्य क्रमोऽस्तीति शेषः॥१०१॥

यन्माहात्म्यादवधानशालिनां स्वप्नानुभूतमपि वस्तु अर्थक्रियापर्यन्तां साक्षात्काररूपतामेति, इत्याह

अत एव स्वप्नकाले
श्रुते तत्रापि वस्तुनि ।
तादात्म्यभावनायोगो
न फलाय न भण्यते ॥१०२॥

अतः—स्वपरामर्शस्य सद्भावादेव, तत्र अस-

दर्थोपलम्भात्मन्यपि स्वप्नसमये कस्मिंश्चित्-श्रुतेऽपि वस्तुनि विषये स्त्र्यादाविव ताद्रूप्येण पुनःपुनरभ्यासात्मा भावनायोगः क्रियमाणः फलाय न न भण्यते — जागरोचितार्थक्रियाकारितया साक्षात्क्रियते इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

ननु यद्विषयोऽयं नाम स्वपरामर्शो इष्यते, तयोः पाठचिन्तनयोरेव किं स्वरूपम्? इत्याशङ्क्याह

> संकेतानादरे शब्द-
> निष्ठमामर्शनं पठिः ।
> तदादरे तदर्थस्तु
> चिन्तेति परिचर्च्यताम् ॥१०३॥

संकेतस्य — सांकेतिकस्यार्थस्यानादरः — उपेक्षा, अत एव 'शब्दनिष्ठम्' इत्युक्तं, न पुनरर्थनिष्ठमपि, तदादरे शब्दापेक्षायां शब्दप्रतीतिपुरःसरीकारेण हि अर्थप्रतीतिरिति भावः॥१०३॥

---

पं० ११ क० पु० तदर्थस्था इति पाठः ।

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

तदद्वयायां संवित्ता-
वभ्यासोऽनुपयोगवान् ।
केवलं द्वैतमालिन्य-
शङ्कानिर्मूलनाय सः ॥१०४॥

तदिति – उक्तोद्धेतोः, अभ्यास इति यमादीनाम् । ननु यदि नामायमनुपयुक्तः तत्किमर्थमुक्तः? इत्याशङ्क्याह – केवलमित्यादि।१०४।

ननु यद्येवं तत्कथं स्वपरामर्शात्मनस्तर्कस्य द्वैतशङ्कानिर्मूलत्वं प्रागुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

द्वैतशङ्काश्च तर्केण
तर्क्यन्त इति वर्णितम् ।
तत्तर्कसाधनायास्तु
यमादेरप्युपायता ॥ १०५ ॥

वर्णितमिति तर्कतत्त्वचर्चावसरे, उक्तं च

'अनेन लक्षयेद्योगी योगसिद्धिप्रवर्तकम् ।
निवर्तकं च यद्वस्तु बहुधा संव्यवस्थितम् ॥'

इति, तस्मात् यमादीनां यद्वैतशङ्कानिर्मूलकत्वमुक्तं तत् तर्कोपायत्वात्पारम्पर्येण, इत्येषां तदेव मुख्यतयाभिधानीयम्, इत्याह 'तत्तर्केत्यादि' तेन तर्कस्यैव संवित्तौ साक्षादुपायत्वं, नेतरेषाम् इत्युक्तं भवेत् ॥ १०५ ॥

न चैतत् निष्प्रमाणकमित्याह

उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च
　　न द्वैतं नापि चाद्वयम् ।
लिङ्गपूजादिकं सर्व-
　　मित्युपक्रम्य शंभुना ॥१०६॥
विहितं सर्वमेवात्र
　　प्रतिषिद्धमथापि वा ।
प्राणायामादिकैरङ्गै-
　　र्योगाः स्युः कृत्रिमा यतः॥१०७॥

तत्तेनाकृतकस्यास्य
कलां नार्घन्ति षोडशीम् ।

श्रीपूर्वशास्त्र इत्युपक्रम्य शंभुनोक्तम्, इति संबन्धः 'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्' इत्येवं-वृत्तानुरोधान्न पठितम्, 'लिङ्गपूजादिकं सर्वम्' इत्यत्रापि नञा संबन्धः, यदुक्तं तत्र

'.................... लिङ्गपूजादिकं न च ।'

इति । सर्वमित्यनेन लिङ्गपूजाद्यपरित्यागादेः स्वीकारः, यदुक्तं तत्र

'न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ।
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ॥
तत्त्यागो वा व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ।
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ॥
परलिङ्गस्वरूपादि नामगोत्रादिकं च यत् ।
नास्मिन्विधीयते किंचिन्न चापि प्रतिषिध्यते ॥'

इति। एवं हि तूष्णींभाव आपतेत्, इत्याशङ्क्य 'विहितम्' इत्याद्युक्तं, सर्वमिति विधीयमानं

पं० २ क० पु० नार्हन्ति इति पाठः ।

प्रतिषिध्यमानं च किंचिन्निषिद्ध्य, किंचिद्विधी-
यमानं हि भेदमेवाविर्भावयेत् तेन — संविदद्वै-
तशालिनो योगिनः कार्याकार्यविभागो नास्ति,
इत्युक्तं स्यात्, अत एव प्राणायामाद्यङ्गकरण-
कतया कृत्रिमत्वात् स्वरससिद्धसंविदद्वयात्मनो
योगस्य स्वल्पेनापि अंशेन दर्शनान्तरीया योगाः
साम्यमात्रमप्यधिगन्तुं नोत्सहन्ते इत्युक्तं —
प्राणायामादिकैरित्यादि ॥ १०७- ॥

ननु यद्येवं तत् अकृतकत्वेन निमित्तानपेक्ष-
णादस्य नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात्? इत्याश-
ङ्कयाह

किं त्वेतदत्र देवेशि
नियमेन विधीयते ॥ १०८ ॥
तत्त्वे चेतः स्थिरं कार्यं
तच्च यस्य यथास्त्विति ।

किं पुनरेतत् अत्र नियमेन विधातव्यं, यत् —

'तत्त्वे स्थिरं चेतः स्यात्' इति, चेतसोऽपि अत्र स्थैर्यमाकस्मिकमेव न स्यात्, इत्यत्र केनापि निमित्तेनावश्यं भाव्यम्, इत्याशङ्क्य उक्तं 'तच्च यस्य यथास्त्विति' तच्च – स्थिरं चेतो, यस्य कस्यचन योगिनो यथा नियतनिमित्तानपेक्षित्वेन स्यादित्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्।'

इति, अत एव नियमाभावात् सर्वमेव विहितं प्रतिषिद्धं चेत्युक्तम्। अष्टादशस्य पटलस्यैकवाक्यतां दर्शयितुमालूनविशीर्णतया अयं ग्रन्थः संवादितः ॥ १०८- ॥

तदेवोपसंहरति

एवं द्वैतपरामर्श-
नाशाय परमेश्वरः ॥ १०९ ॥
क्वचित्स्वभावममल-
मामृशन्ननिशं स्थितः।

ननु शुद्धसंविन्मात्रात्मैव पारमेश्वरः स्वभावो यस्य 'अहमेव सर्वम्' इत्येवं-रूपः परामर्शः, न च अस्य क्वचित् कदाचित् कश्चिद्विशेषः संभवेत् इति कथमुक्तं—क्वचिदमलं स्वभावमामृशन् स्थितः? इति, इत्याशङ्क्याह

यः स्वभावपरामर्श
इन्द्रियार्थाद्युपायतः ॥ ११० ॥
विनैव तन्मुखोऽन्यो वा
स्वातन्त्र्यात्तद्विकल्पनम् ।

इह खलु इन्द्रियार्थाद्युपायनैरपेक्ष्येण अन्तरुल्लिखिताकारमात्रनिष्ठः, तन्मुखः—इन्द्रियार्थाद्युपायको निर्विकल्पपृष्ठभावी अन्यो वा यः स्वभावपरामर्शः तदुभयरूपमपि क्षेत्रज्ञस्वातन्त्र्योल्लासितं विकल्पनं विकल्प इत्यर्थः ॥ ११० ॥

तच्च द्विधा, इत्याह

तच्च स्वच्छस्वतन्त्रात्म-
रत्ननिर्भासिनि स्फुटम्॥१११॥

भावौघे भेदसंधात्
स्वात्मनो नैशमुच्यते ।
तदेव तु समस्तार्थ-
निर्भरात्मैकगोचरम् ॥ ११२ ॥
शुद्धविद्यात्मकं सर्व-
मेवेदमहमित्यलम् ।

तच्च — विकल्पनं, परानवभास्यत्वात् स्वच्छः, अत एवानन्यापेक्षत्वात् स्वतन्त्रो, योऽसावात्मा प्रमात्रेकरूपः परः प्रकाशः, स एव प्रतिबिम्ब-ग्रहणसहिष्णुत्वात् स्फटिकं, तत्राभेदेन निर्भासनशीलेऽपि प्रमातृप्रमेयात्मनि भावौघे, स्फुटं कृत्वा, स्वात्मनः सकाशादन्यापोहरूपत्वेन भेदसंधायकत्वात् नैशं — मायीयमुच्यते, इति सामान्येनोक्तेः सर्वैरेवाभिधीयते इत्यर्थः, तदेव विकल्पनं पुनः 'सर्वमिदमहमेव' इत्येवं-रूपम्, अत एव समस्तार्थपरिपूर्णस्वात्मैकनिष्ठम्, अत

एवालं – पर्याप्तं सत् शुद्धविद्यात्मकमुच्यते, इति प्राच्येन संबन्धः ॥ १११ ॥ ११२- ॥

ननु

'सर्वो विकल्पः संसारः ………………… ।'

इत्यादिनीत्या विकल्पस्तावत् सर्व एव हेयः, तदनेनापि विभागेनाभिहितेन कोऽर्थः? इत्याशङ्क्याह

इदं विकल्पनं शुद्ध-
विद्यारूपं स्फुटात्मकम् ॥११३॥
प्रतिहन्तीह मायीयं
विकल्पं भेदभावकम् ।

स्फुटात्मकमिति – प्रागुक्तविकल्पसंस्क्रियाक्रमणेन साक्षात्कारतां प्राप्तमित्यर्थः, मायीयस्य विकल्पस्य प्रतीघाते भेदभावकत्वं हेतुः, अत एवाभेदभावकत्वादिदमुपादेयम्, इत्युक्तं स्यात् ॥ ११३ ॥

तच्च परामृश्यभेदादनेकप्रकारम्, इत्याह

शुद्धविद्यापरामर्शो
यः स एव त्वनेकधा ॥११४॥
स्नानशुद्ध्यर्चनाहोम-
ध्यानजप्यादियोगतः ।

ननु अयं शुद्धविद्यात्मा परामर्शः कथं नाम भेदनिष्ठं मायीयमेव विकल्पं प्रतिहन्यात्, यत्प्रयोजकीकाराय अस्यापि प्रकारान्तरासूत्रणम्, इत्याशङ्क्याह

विश्वमेतत्स्वसंवित्ति-
रसनिर्भरितं रसात् ॥ ११५ ॥
आविश्य शुद्धो निखिलं
तर्पयेदध्वमण्डलम् ।

इह खलु एवंपरामर्शवान् योगी वक्ष्यमाणक्रमेण स्वात्मचमत्कारपूर्णतया आदरातिशयात्

विश्वमिदमाविश्य, अत एव परप्रमात्रेकरूपत्वात् शुद्धो निखिलमध्वमण्डलं तर्पयेत् — स्वात्मसंवित्तिरसनिर्भरतया साक्षात्कुर्यादित्यर्थः । अनेन च प्रतिनियतकल्पितबाह्यार्चनीयाद्यभावं कटाक्षयता योगाङ्गानुपयोगित्वानन्तर्येण उद्दिष्टस्य कल्पितार्चाद्यनादरस्य अवकाशो दत्तः ॥११५॥

ननु स्नानादेरपि भेदसंधायकत्वान्मायीयामर्शरूपत्वमेव युक्तं, तत् कथमस्य शुद्धविद्यापरामर्शकत्वमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

उल्लासिबोधहुतभु-
　　ग्दग्धविश्वेन्धनोदिते ॥११६॥
सितभस्मनि देहस्य
　　मज्जनं स्नानमुच्यते ।

बाह्योन्मुखत्वादुल्लसनशीलः प्रमाणात्मा योऽसौ बोधः स एव प्रकाशत्वादग्निः, तेन दग्धं — स्वात्मसात्कृतं यन्नीलसुखादिरूपं विश्वं तदेव

दाह्यत्वादिन्धनं, तत उदिते — तदुभयसंघट्टनेन लब्धप्रतिष्ठाने, सिते — निरुपाधिनि, भस्मनि — अपरिमितप्रमात्रेकरूपे परे तत्त्वे, देहादेः — परिमितस्य प्रमातुर्यन्मज्जनं — स्वगुणीभावेन तत्रैव मुख्यतया समावेशः, तन्नाम स्नानमुच्यते, न पुनर्बाह्यजलादिरूपम्, इति अर्थसामर्थ्यलभ्यो व्यतिरेकः, यदभिप्रायेणैव

'यदि मुक्तिर्जलस्नानान्मत्स्यानां सा न किं भवेत्।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥ ११६ ॥

ननु बाह्येन स्नानेन नित्यादौ कर्मण्यधिकारो देहादौ च शुद्धिर्भवेत्, अस्य पुनरेवं-विधस्य किं फलम्? इत्याशङ्क्याह

इत्थं च विहितस्नान-
स्तर्पितानन्तदेवतः ॥ ११७ ॥
ततोऽपि देहारम्भीणि
तत्त्वानि परिशोधयेत्।

ननु

‘ सर्वं खल्विदं ब्रह्म ’

इत्यादिनीत्या सर्वमिदं — देहादि परब्रह्मात्मक-शिवस्वभावमेव, इति का नाम तत्र शुद्धिरशुद्धिर्वा ? इत्याशङ्क्याह

शिवात्मकेष्वप्येतेषु
　बुद्धिर्या व्यतिरेकिणी ॥ ११८ ॥
सैवाशुद्धिः पराख्याता
　शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम् ।

व्यतिरेकिणी — भेदात्मा, तद्धीः — व्यतिरेकिणी बुद्धिः, यदुक्तम्

‘ अशुद्धं नास्ति तत्किंचित्सर्वं तत्र व्यवस्थितम् ।
यत्तेन रहितं किंचिदशुद्धं तेन जायते ॥ ’

इति ॥ ११८- ॥

ततश्च किम्, — इत्याह

एवं स्वदेहं बोधैक-
पात्रं गलितभेदकम् ॥११९॥
पश्यन्संवित्तिमात्रत्वे
स्वतन्त्रे तिष्ठति प्रभुः ।

एवम् — उक्तेन प्रकारेण अनात्मन्यात्माभिमानन्यक्कारेण, आत्मनि स्वतन्त्रतादिधर्मप्रयोजकीकारेण, संविन्मात्ररूपतां साक्षात्कुर्यादित्यर्थः ॥ ११९- ॥

एवं स्नानादेरकल्पितत्वमभिधायेतरेषामपि अर्चनाङ्गानां दर्शयति

यत्किंचिन्मानसाह्लादि
यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ ॥१२०॥
योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि
पूजोपकरणं हि तत् ।

यस्यां कस्यांचिदिन्द्रियवृत्तौ, यत् किंचित्—अनियतं, मानसाह्लादि वस्तु, ब्रह्मरूपे शोभने सूर्याचन्द्रादिविलक्षणे तेजसि, योज्यते—बहीरूपतापरित्यागेन संविन्मात्रात्मना साक्षात्क्रियते, तन्नाम पूजोपकरणं—तावतैव पूजायाः परिपूर्तिर्भवेदित्यर्थः ॥ १२०- ॥

ननु अश्रुतपूर्वमिदं पूजालक्षणम्? इत्याशङ्क्याह

पूजा नाम विभिन्नस्य
भावौघस्यापि संगतिः ॥१२१॥
स्वतन्त्रविमलानन्त-
भैरवीयचिदात्मना ।

विभिन्नस्यापि रूपरसादेर्भावौघस्य, देशकालाद्यनवच्छिन्ननिरुपाधिपूर्णपरसंविदात्मना, या संगतिः—एकीकारः, सा पूजेति संभाव्यते—नैतदस्मदुपज्ञमेवेत्यर्थः, यदुक्तम्

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'

इति । एवं होमादीनामपि पूजोपकरणत्वादेव ईदृक् रूपमर्थसिद्धम्, इति न साक्षादुक्तम्, तच्च प्राक् बहूक्तं, वक्ष्यते च, इति—तत एवावधार्यम् ॥ १२१ ॥

ननु कथमन्यस्य अन्येनैकीकार एव भवेत् यदपि पूजादेर्लक्षणतयोच्येत ? इत्यशङ्क्याह

तथाहि संविदेवेय-
मन्तर्बाह्योभयात्मना ॥१२२॥
स्वातन्त्र्याद्वर्तमानैव
परामर्शस्वरूपिणी ।

इयम्—उक्तस्वरूपा, संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यादन्तर्बहीरूपतया परिस्फुरति, इति—तदतिरिक्तमन्यत् नाम न किंचिद्वस्तुतोऽस्ति, इति युक्तमुक्तं—'विभिन्नस्यापि भावौघस्य चिदात्मनैकीकार' इति, ननु कथं नामास्या बहीरू-

एतावभासनेऽपि अहंपरामर्शात्मकं स्वं रूपं स्यात्? इत्याशङ्क्योक्तं 'परामर्शस्वरूपिण्येव' इति, एवमप्यस्या न स्वरूपात्प्रच्याव इत्यर्थः ॥ १२२ ॥

इयदेव हि नामास्याः परामर्शरूपत्वं — यद्विश्वरूपतया प्रस्फुरति, इत्यत आह

स च द्वादशधा तत्र
　　सर्वमन्तर्भवेद्यतः ॥ १२३ ॥
सूर्य एव हि सोमात्मा
　　स च विश्वमयः स्थितः ।
कलाद्वादशकात्मैव
　　तत्संवित्परमार्थतः ॥ १२४ ॥

सः — परप्रमातृरूपः परामर्शश्च द्वादशधा विश्वरूपतयोल्लसेदित्यर्थः, अनेन कलिपतार्चाद्यनादरानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टः संविच्चक्रोदयोऽप्युपक्रान्तः । ननु विश्वस्य प्रमातृप्रमेयादिरूपत्वेनापि बहुधात्वमस्ति, इति कथं — द्वादशक-

लात्मसूर्यरूपेण प्रमाणमात्रेणैवोपात्तेन तत्संग्रहः सिद्ध्येत्? इत्याशङ्क्याह 'तत्रेत्यादि' सर्वमिति – प्रमातृप्रमेयादि, इह खलु

'योऽयं वह्निः परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत् ।'

इत्याद्युक्त्या परसंविदात्मा प्रमाता तावत् भेदेन्धनदाहकत्वादग्निः, स एव च अहंप्रतीतिमात्रस्वरूपः स्वस्वातन्त्र्यात् बुद्धीन्द्रियाद्यात्मना द्वादशधा प्रस्फुरन् प्रमाणदशामधिशयानः 'सूर्य' इत्युच्यते, प्रमाणं च प्रमातुरेव बहिर्मुखं रूपम्, इति–तत्र प्रमाता तावदन्तर्भावमियात्, प्रमाणं नाम च ज्ञानं, तच्चोपाश्रयशून्यं न क्वचिदपि संभवति – इत्यवश्यमेव मेयाक्षेपेण वर्तते, इति, तदपि अत्रान्तर्भूतमेव, तदाह 'सूर्य एव' इत्यादि, 'सोमः' प्रमेयम्, यदुक्तं प्राक्

'सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते ।
अन्योन्यमवियुक्तौ तौ स्वतन्त्रावप्युभौ स्थितौ ॥'

इति । विश्वमय इति विश्वस्य मेयात्मकत्वात्,

अतश्च सर्वस्यैव अत्रान्तर्भावात् विश्वरूपतया प्रस्फुरन्त्याः परस्याः संविदो द्वादशात्मकत्वमेव वस्तुतः संभवति, इति युक्तमुक्तं 'स च द्वादशधा इति, अत एवाह 'कलाद्वादशकेत्यादि' कलाः—प्रमात्रादिरूपाः अंशाः ॥१२३॥१२४॥

ननु अस्यास्त्रयोदशात्मकत्वमपि अन्यैरुक्तं, तत् कथमिह द्वादशात्मकत्वमेवोच्यते? इत्याशङ्क्याह

सा च मातरि विज्ञाने
　　माने करणगोचरे।
मेये चतुर्विधं भाति
　　रूपमाश्रित्य सर्वदा ॥ १२५ ॥

विज्ञाने इति मानविशेषणम्, अन्येषां हि बोधाबोधरूपमपि प्रमाणलक्षणं विवक्षितं, करणगोचरे इति—प्रमाणविषयतां प्राप्ते इत्यर्थः, अन्यथा हि मेयं नाम स्वात्मनि न किंचिदेवेति भावः, चो हेतौ, यतः, सा—पारमार्थिकी

संवित् सृष्टिस्थितिसंहारानाख्यत्वेन चतुर्विधं रूपमाश्रित्य प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च सर्वदा भाति—अविच्छिन्नत्वेन एकैकत्र चातुरात्म्येन द्वादशधा प्रस्फुरतीत्यर्थः, यदुक्तम्

'सोमार्कानलदीप्तीनां रूपं यः सर्वगोऽमितः ।
सृष्ट्यादिक्रमयोगेन व्यक्ततां नयति स्फुटम् ॥'

इति । तथा

'यस्यां यस्यां बोधभूमौ समाविशति तत्त्ववित् ।
तस्यां तन्मयतां प्राप्य चातुरात्म्यं प्रपद्यते ॥'

इति । ननु अस्या परस्याः संविदोऽन्यैरनयैव भङ्ग्या त्रयोदशात्मकत्वमुक्तम्, यदुक्तम्

'एकं स्वरूपरूपं हि मानमेयप्रमातृताः ।
सर्गावतारसंहारमयीराक्रम्य वर्तते ॥
स्वस्वरूपानुगुण्येन प्रत्येकं कलनावशात् ।
सृष्टिस्थित्यादिभिर्भेदैश्चतुर्धा ता अपि स्थिताः ॥
कालग्रासान्तमुदयाच्चतुर्धा विभवो हि यः ।
तस्य विश्रान्तिरेकैव ततो देव्यस्त्रयोदश ॥
अनाख्यचक्रे प्राधान्यात्पूजनीयतया स्थिताः ।'

इति। इह च द्वादशात्मकत्वमुच्यते इति किमे-
तत्? इति न जानीमः, अत्रोच्यते – इह खलु
परैव संवित् स्वस्वातन्त्र्यात् यथोक्तयुक्त्या द्वाद-
शधा प्रस्फुरिता इति तावदविवादः, तत्र य-
द्यसौ परैव संवित् तेभ्यो द्वादशभ्यो रूपेभ्यः
पृथगवभासेत तदस्या भवेत्त्रयोदशत्वम्, अन्य-
था तत् कस्यान्यस्य त्रयोदशत्वं स्यात्, संविदो
हि अतिरेके द्वादश रूपाणि असंविद्रूपत्वात् न
चकास्युरेव, इति – निराभासा संविदेकैव अव-
शिष्येत, इति को नाम त्रयोदशरूपत्वस्याव-
काशः। अथातिरेकेऽपि संवित् सामान्यन्यायेन
द्वादशापि रूपाण्यनुयन्ती स्वरूपेणापि अव-
भासते, इति स्थितमेव अस्यास्त्रयोदशत्वम्
इति चेत्, असदेतत्, सामान्यं हि विशेषेभ्यो
भिन्नं सत्ताननुगच्छति, येन – गौर्गौरिति
अभिन्नस्तदनुगतः प्रत्ययः स्यात्, संविदि पुन-
स्तानि तान्यपि रूपाणि प्रस्फुरन्ति, नातिरि-
च्यन्ते, तथात्वे हि तेषामवभास एव न स्यात्,

तेन यन्नाम तानि तानि रूपाणि प्रस्फुरन्ति तदेवोच्यते 'संविदवभासते' इति, तत् किं केनानुगम्यते—दृष्टान्तस्य वैषम्यात्, यत्किंचिदेतत्, यदभिप्रायेणैव

'भावा भान्तीति संवित्तावात्मा भातीति भासते।
आत्मा भातीति संवित्तौ भावा भान्तीति भासते॥'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम्। अथ परैवेयं संवित् द्वादशकात्मनारूषितेन रूपेण प्रस्फुरेत्, शुद्धसंविन्मात्रात्मना त्रयोदशेन चानारूषितेन? इति चेत्, नैतत्, इह हि—निरुपाधिरनारूषिता निराभासा परैव शुद्धा संविदस्ति इति नः सिद्धान्तः, सा च स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा विश्वरूपतामवभासयन्ती द्वादशकात्मनारूषितेनैव रूपेण प्रस्फुरेत्, नहि तदानीं तदतिरिक्तमनारूषितमपि अस्या रूपं भायात्, तथात्वे हि आरूषितमेव रूपं न चकास्यादित्युक्तं बहुशः। ननु विश्वमयत्वेऽप्यस्या विश्वोत्तीर्णमनारूषितं रूपं संभवेत्, अन्यथा

हि अस्या जाड्यमापतेत्, नन्वस्य प्रश्नस्य क इवाशयः — किं विश्वमयत्वेऽप्यस्या गोशृङ्गन्यायेन तदतिरिक्तमनारूषितं रूपं संभवेदिति, उत स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामवभासयन्त्या अप्यस्याः संविदद्वयात्मनः स्वस्वरूपात् प्रच्यावो न जायते इति? तत्राद्यः पक्षो दूषितप्रायः — नहि वैश्वरूप्यमतिक्रम्य अस्याः स्फुरत्तैव स्यादित्युक्तमसकृत्, वक्ष्यति च

'न खल्वेष शिवः शान्तो नाम कश्चिद्विभेदवान्।
सर्वेतराध्वव्यावृत्तो घटतुल्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
महाप्रकाशरूपा हि येयं संविद्विजृम्भते।
स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता ॥
तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य जृम्भते।'

इति। अनेनैवाभिप्रायेण श्रीतपस्विनापि

'परतरतयादिरूपं
यद्यत्कलयामि तत्तदधरं ते।
अधरतरापि न कलना
सा काचिद्यत्र न स्थितास्यभितः ॥'

इत्याद्युक्तम् । द्वितीयस्मिन् पक्षे पुनर्वस्तुतोऽ-
नारूपितत्वेऽपि स्वस्वातन्त्र्योल्लासितेन तेन तेना-
रूषितेनैव रूपेण अस्या अवभासः, इति पुन-
रपि नास्यास्त्रयोदशरूपत्वं, तद्धि अयःशलाका-
कल्पतया स्पर्धाबन्धेन परिस्फुरतोरनयोः स्यात्,
यथाहि—नटस्तत्तद्भूमिकावलम्बनवेलायां वस्तु-
तो नटत्वेऽपि तत्तद्रूपतयैवावभासते, न पुनः नट-
त्वेनापि, तथैव च संविदपि वस्तुतः शुद्धसंवि-
न्मात्रत्वेऽपि विश्वमयतायां द्वादशकात्मनैव रू-
पेणावभासते, न पुनः शुद्धसंविन्मात्रात्मना
त्रयोदशेनापि रूपेणावभासते, इति यथोक्तमेव
युक्तम्, तस्माद्विश्वरूपतामवभासयन्ती संवित्
द्वादशधैव प्रस्फुरेत्, अन्यथा पुनरेकैवेति पर्य-
वसितम्, यदागमः

'पृथक्पृथक्स्वकार्यस्था यावत्तिष्ठन्ति देवताः ।
तावत्क्रमकृता संज्ञा विद्यते नान्यथा पुनः ॥
एकीभावतया सर्वमनाख्यायां यदा स्थितम् ।
अक्रमस्तु तदा ज्ञेयः प्रोत्तीर्णः सर्वतो यतः ॥'

इति । एवं चैकत्वमपि द्वयप्रतिपक्षभूतम्, इति तद्विशेषणत्वमपि न सहते, इति संविदेवेति स्यात्, एवकारश्च अन्ययोगव्यवच्छेदकः, अन्यश्च कश्चिदपीह नास्ति, इति किं व्यवच्छिन्द्यात्, इति तद्योगमप्यसहमाना संविदित्येवं स्यात्, संविच्च संवेद्यनिष्ठा, संवेद्यं नाम च स्वात्मातिरिक्तं न किंचिदप्यस्ति इति, तथा व्यपदेशमप्यलभमाना सर्वत्रैवाव्यपदेश्येति अनामकेति अनाख्येति चोद्घोष्यते, इत्यलं बहुना । ननु यद्येवं तत् कथमन्यत्र अस्यास्त्रयोदशरूपत्वमुक्तं युज्यते, नहि तन्नोपपद्यते इति वक्तुं शक्यम्—आगमात्मनो निर्बाधस्य प्रमाणस्य भावात्, तत् कथमेतत् प्रतिसमाधीयते इत्युच्यताम्? उच्यते—इह भेदाधिवासिता मायाप्रमातारस्तावदुपदेश्याः, इति समानार्थचर्यावत् तदानुगुण्येन अत्र प्रवृत्त उपदेशः सुखेन प्ररोहमियात्, इति विकल्पबलोपनतं भेदमाश्रित्य संविदस्त्रयोदशरूपत्वमुक्तम्, इह पु-

नर्वास्तवमभेदमेवावलम्ब्य एवमुपदेशः, इति सर्वमेव प्रतिसमाहितम् । ननु अस्याः परस्याः संविदः

'तस्य शक्तय एताश्च तिस्रो भान्ति परादिकाः ।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः ॥'

इत्याद्युक्त्या प्रागन्यथा द्वादशधोदय उक्तः, इह चान्यथा, इति पूर्वापरव्याहतत्वमापतेत्, इति किमेतत्? अत्रोच्यते—इह यावता हि परस्याः संविदो द्वादशधोदयो विवक्षितः स चैवमस्तु, अनेवं वा—प्रक्रियाया विशेषे तस्या-विशेषात्, एतदभिप्रायगर्भीकारेणैव च अन्य-त्राप्यनेनैव

'ता एताश्चतस्रः शक्तयः स्वातन्त्र्या-त्प्रत्येकं त्रिधैव वर्तन्ते—सृष्टौ स्थितौ संहारे च इति द्वादश भवन्ति'

इत्याद्युक्त्या प्रक्रियान्तरेण अस्या द्वादशधोदय उक्तः, इति सर्वं निरवद्यम् ॥ १२५ ॥

नन्वेवंरूपत्वेनावभासमानाया अस्या वैशि-

ष्टयमवश्याश्रयणीयम्, अन्यथानैक्यमेव न स्यात् तत् पुनः कुत्र कीदृक्? इत्याशङ्क्याह

शुद्धसंविन्मयी प्राच्ये
　　ज्ञाने शब्दनरूपिणी ।
करणे ग्रहणाकारा
　　यतः श्रीयोगसंचरे ॥१२६॥

इयं खलु परा संवित् प्राच्ये – प्रमातरि कथंचित्संकोचोल्लासेऽपि प्रमातृरूपत्वात् शुद्धा, न पुनः प्रमाणादिवदशुद्धैव येयं संवित् संकुचितमविकल्पकं ज्ञानं तत्स्वभावा, बुद्धीन्द्रियाद्यात्मकरणलक्षणे प्रमाणे च, शब्दनं – विकल्पस्तद्रूपिणी भेदामर्शमयीत्यर्थः, अत एव 'ग्रहणाकारा' इत्युक्तम्, ग्रहणं हि ग्राह्यग्राहकोभयापेक्षकम् । ननु प्रमाणदशायामपि परैव संवित् ग्रहणाकारा वर्तते, इत्यत्र किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह – यत इत्यादि 'यतः श्रीयोगसंचरे' इति वक्ष्यमाणमुक्तमिति शेषः ॥ १२६ ॥

तदेवाह

ये चक्षुर्मण्डले श्वेते
प्रत्यक्षे परमेश्वरि ।
षोडशारं द्वादशारं
तत्रस्थं चक्रमुत्तमम् ॥१२७॥

ये इति द्विवचनं गोलकद्वयापेक्षया, एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्, ये श्वेते चक्षुर्मण्डले दृश्येते दृश्यमाने न तु रक्तमण्डलवद्रुते तत्र विश्वक्रोडीकारादुत्तमं प्रमेयप्रमाणप्रमातृप्रमाणां सर्वसर्वात्मकत्वात् षोडशारं चक्रं तिष्ठति—तद्रूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, यदभिप्रायेणैव श्रीक्रमसद्भावभट्टारके 'अनाख्यचक्रे षोडशैव देव्यः पूज्यत्वेनोक्ताः,' यदुक्तं तत्र

'षोडशातः समासेन शृणुष्वैकमना हर ।'

इत्यादि ।

'सा सत्ता लीयते यस्यां काली ह्यष्टकला स्मृता ॥'

इत्यन्तम् । अत्र चानाख्यत्वेऽपि सृष्ट्यात्मनः प्रमेयस्य प्राधान्येनावस्थितेः सोमरूपत्वात् श्वेतत्वम् ॥ १२७ ॥

ननु यद्यत्र षोडशारं चक्रमवस्थितं, तत् कथं द्वादशारमपि ? इत्याशङ्क्याह

प्रतिवारणवद्रक्ते
　　तद्बहिर्ये तदुच्यते ।
द्वितीयं मध्यगे ये ते
　　कृष्णश्वेते च मण्डले॥१२८॥
तदन्तर्ये स्थिते शुद्धे
　　भिन्नाञ्जनसमप्रभे ।
चतुर्दले तु ते ज्ञेये
　　अग्नीषोमात्मके प्रिये ॥१२९॥
मिथुनत्वे स्थिते ये च
　　चक्रे द्वे परमेश्वरि ।

संमीलनोन्मीलनं ते
अन्योन्यं विदधातके ॥१३०॥

तद्वहिः — श्वेतमण्डलबाह्ये, प्रतिवारणवत् — प्रतिमण्डलन्यायेन, रक्ते ये मण्डले स्थिते, तत् द्वितीयं — श्रीसृष्टिकाल्यादिरूपं द्वादशारं चक्रमुच्यते, अनाख्यत्वेऽपि अत्र स्थित्यात्मनः प्रमाणस्य प्राधान्याद्रक्तत्वं, तद्धि प्रमेयोपरञ्जितमेव भवेत्, अतश्च प्रमेयस्य तदभेदेनैवावस्थानात् तद्गतस्य रूपचतुष्कस्य पृथगभावात् द्वादशारत्वम्, अत एवास्य प्रमेयान्तःकाराद्वहिरप्यवस्थानं, मध्यगे — श्वेतकृष्णमण्डलान्तर्गते, अत एव अन्तर्वर्तिना कृष्णेन मण्डलेन बहिष्ठेन च श्वेतेनाच्छुरणात् श्वेतकृष्णे धूसरप्राये ये पुनर्मण्डले तत्प्रमाणस्य प्रमातरि विश्रान्तेः तद्गतस्यापि रूपचतुष्कस्य पृथगभावात् संहारात्मप्रमातृप्रधानं 'भैरवत्रयं, देवीत्रयं, कुलेश्वरः, कुलेश्वरी' चेत्यष्टारं चक्रमुच्यते — इत्यर्थावसेयम्, यद्वक्ष्यति

'षोडशद्वादशाराभ्यामष्टारेष्वथ सर्वशः ।'

इति, तस्य – श्वेतस्यापि मण्डलस्यान्तर् अतीव कृष्णे – कुमारिकाशब्दव्यपदेश्ये, ये मण्डले स्थिते ते पुनः प्रमातुरपि प्रमायां विश्रान्तेः चतुर्दले ज्ञेये – देवीत्रयं श्रीमातृसद्भावश्चेति, प्रमामात्रसतत्त्वानाख्यचक्ररूपतया प्रस्फुरत इत्यर्थः, अत एव चात्र सर्वसंहारकत्वात् निर्विभागतया तमोरूपत्वात् कार्ष्ण्यं, तदेवं चक्षुषि प्रतिनियतावयवरूपत्वेन सृष्ट्यादिक्रमचतुष्टयमवस्थितमित्युक्तम्, तत्रापि अस्य यथासंभवं स्वरूपं निरूपयति 'अग्नीषोम' इत्यादिना, एतच्चक्रचतुष्टयस्य मध्यादग्नीषोमात्मके प्रमातृप्रमेयमये षोडशाराष्टारे भोक्तृभोग्योभयात्मकतया मिथुनरूपे ये द्वे चक्रे स्थिते ते परस्परं संमीलनोन्मीलने विदधाते एव – विदधातके, संकोचविकासौ कुर्वाते इत्यर्थः, प्रमाता हि स्वात्मनि संमीलनमादधानः प्रमेयमुन्मीलयेत् प्रमेयं च संमीलयन् स्वात्मानमुन्मीलयेत्, एवं

प्रमेयमपि, इत्यन्योन्यशब्दार्थः, एतदेव च सृष्टिसंहाररूपत्वमुच्यते, प्रमेयं च नाम प्रमाणोपारोहमन्तरेण प्रमातरि विश्रान्तिमेव न यायात्, इत्यत्र स्थितेरपि अर्थाक्षिप्तत्वम्, प्रमातापि प्रमेयौन्मुख्येन 'ज्ञातोऽयं मयार्थ' इति संतोषोत्पादान्निराकाङ्क्षः सन् स्वात्मनि विश्रान्तिमासादयेत्—इति प्रमातृप्रमेयसंघट्टादपि पूर्णायाः परस्याः संविदः समुल्लासः स्यात् ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥

अत आह

यथा योनिश्च लिङ्गं च
संयोगात्स्रवतोऽमृतम् ।
तथामृताग्निसंयोगाद्-
द्रवतस्ते न संशयः ॥१३१॥

'भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥'

इत्यादिनीत्या परस्परावेशलक्षणं संयोगमासाद्य योनिः — माया, लिङ्गं च —

> ‘ लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
> लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥ ’

इत्याद्युक्त्या सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारी परमेश्वरः, तौ यथा स्रवतः — सृष्टिं कुरुतः, तथा ते — षोडशाराष्टारे, निःसंशयममृतस्य सोमात्मनः प्रमेयस्य, अग्नेश्च प्रमातुः परस्परौन्मुख्यलक्षणात् संयोगादमृतम् — अकालकलितत्वात् अनादिनिधनं परं संवित्तत्त्वं द्रवतः — तद्रूपतया प्रसरत इत्यर्थः, संविदेव हि आश्यानीभूता नीलादिरूपतामधिशयाना प्रमाणोपारोहद्वारेण तद्रूपतां विलाप्य प्रमातरि विश्रान्तिमुपगच्छन्ती स्वेन प्रमात्रेकात्मना रूपेण प्रस्फुरतीत्याशयः ॥ १३१ ॥

ननु मातृमेयाद्यात्मा मायीयोऽयं व्यवहारः,

तत् कथं तस्मिन् सत्यप्येवं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

तच्चक्रपीडनाद्रात्रौ
ज्योतिर्भात्यर्कसोमगम् ।
तां दृष्ट्वा परमां ज्योत्स्नां
कालज्ञानं प्रवर्तते ॥ १३२ ॥

तयोः—प्रमातृप्रमेयात्मकयोः षोडशाराष्टारयोश्चक्रयोः, पीडनात्—सारार्थाकर्षणलक्षणान्निष्पीडनात्, रात्रौ—मायायामपि सत्याम्, अर्कसोमगं—प्रमाणप्रमेयाभ्यामप्यतिक्रान्तं, प्रमातृलक्षणं ज्योतिरवभासत एव, यत् प्रमाणाद्यपेक्षया परमं, विश्वाप्यायकारित्वादिना ज्योत्स्नाशब्दव्यपदेश्यं, दृष्ट्वा—स्वात्मरूपतया निभाल्य

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम् ।'

इत्यादिनीत्या सृष्ट्याद्यात्मनो विश्वस्य कलना-

त्कालः — परप्रमात्रेकरूपः पूर्णः प्रकाशः, तस्य ज्ञानं प्रवर्तते — स एव तद्रूपतयावभासत इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

ननु यद्येवं, तत् विश्वस्यावभास एव न स्यात्? इत्याशङ्क्याह

सहस्रारं भवेच्चक्रं
　　ताभ्यामुपरि संस्थितम् ।

ताभ्यां — षोडशाराष्टाराभ्यामेव चक्राभ्यां सकाशात् सहस्रारं चक्रं — भूतभावभुवनादिरूपतयानन्तभेदं विश्वम्, उपरि संस्थितं भवेत् — व्यतिरिक्तायमानत्वेऽपि स्वसंलग्नमेव प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥

ततोऽपि विश्वलक्षणाच्चक्रादवान्तराणि चक्राणि उद्भूतानि, इत्याह

ततश्चक्रात्समुद्भूतं
　　ब्रह्माण्डं तदुदाहृतम् ॥ १३३ ॥

ब्रह्माण्डमिति – प्रकृत्यण्डादीनामप्युपलक्षणम् ॥ १३३ ॥

ननु कथमनेकप्रकारमियदविच्छेदेनैव विश्वं प्रस्फुरेत्? इत्याशङ्क्याह

तत्रस्थां मुञ्चते धारां
सोमो ह्यग्निप्रदीपितः ।

यतः क्रियाशक्त्यात्मा सोमः परप्रमात्रेकरूपेणाग्निना स्वस्वातन्त्र्यात् प्रदीपितो – बाह्यौन्मुख्ये समुत्तेजितः सन्, तत्रस्थां – विश्वत्र वर्तमानां, धारां मुञ्चति – प्रमातृप्रमेयादिरूपत्वेनाविच्छिन्नेन प्रवाहेण परिस्फुरति, येनायम् इयान्विश्वस्फारः ॥

न केवलमयं साधारणमेव विश्वं सृजति, यावदसाधारणमपि, इत्याह

सृजतीत्थं जगत्सर्व-
मात्मन्यात्मन्यनन्तकम् ॥१३४॥

आत्मन्यात्मनि इति वीप्सायां — प्रत्यात्ममित्यर्थः ॥ १३४ ॥

तच्च कथम्? इत्याह

षोडशद्वादशाराभ्या-
　　मष्टारेष्वथ सर्वशः ।
एवं क्रमेण सर्वत्र
　　चक्रेष्वमृतमुत्तमम् ॥ १३५ ॥
सोमः स्रवति यावच्च
　　पञ्चानां चक्रपद्धतिः ।

अष्टारेष्विति बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते, इति चतुरारस्यापि आक्षेपात् षोडशद्वादशाराभ्यां सह सर्वत्र सर्वेषु चतुर्ष्वप्येतेषु चक्रेषु, एवम् — उक्तयुक्त्या अवरोहात्मना क्रमेण, सर्वशः — सर्वप्रकारम्, उत्तमममृतं — बहीरूपतात्मकं निजं सारं, क्रियाशक्त्यात्मा सोमः, अर्थात् तावत् स्रवति यावत् पञ्चप्रकारा बुद्धीन्द्रियादीनां च-

तुर्णां चक्राणां पद्धतिः—परिपाटी, पृथ्वीतत्त्वपर्यन्तं प्रमेयप्रकृतिना स्थूलेन रूपेण प्रस्फुरेदित्यर्थः। परमेश्वरो हि स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामवविभासयिषुः संकुचितप्रमातृत्वाद्याभासनक्रमेण प्रमाणप्रमेयादिरूपतामधिशयानः कार्यकारणात्मपाञ्चभौतिकशरीरादिरूपतामवभासयति, इति भावः ॥ १३५ ॥

न केवलमयं जगत् सृजत्येव यावत्संहरत्यपि, इत्याह

तत्पुनः पिबति प्रीत्या
हंसो हंस इति स्फुरन् ॥१३६॥
सकृद्यस्य तु संश्रुत्या
पुण्यपापैर्न लिप्यते।

अहं परप्रमातृरूपोऽपि सविश्वस्फारः, सविश्वस्फारोऽपि वा अहमेव, इत्यकृत्रिमेण सृष्टिसंहारकारिणा स्वभावभूतेन विमर्शेन सातत्येन प्रवृत्तत्वादविच्छिन्नतया प्रस्फुरन्

'परमात्मा शिवो हंसः .................... ।'

इत्याद्युक्त्या 'हंसो' हानसमादानधर्मा अग्नि-शब्दव्यपदिष्टः परप्रमाता, तत्—प्रमातृप्रमेयाद्यात्मकं विश्वं, पुनः—सृष्ट्याद्युत्तरकालं, प्रीतिः—आनन्दः स्वातन्त्र्यं, तया पिबति—स्वात्मसात्करोति संहरतीत्यर्थः, यस्य परमात्मनो हंसस्य, सकृत्—एकवारमपि, संश्रुत्या—साक्षात्कारेण, अर्थात् सर्वो जनः पुण्यपापैर्न लिप्यते—स्वकृतैरपि शुभाशुभैः कर्मभिर्भोगं दातुं न स्पृश्यते, अपि तु अपवृज्यत एवेत्यर्थः, तेन एतत्साक्षात्कारभाज एव जनस्य कार्तार्थ्यं, नेतरस्य, इत्युक्तं स्यात्, यदुक्तम्

'अकृतार्थो नरस्तावद्यावद्धंसं न विन्दति ।'

इति ॥ १३६ ॥

एवमस्य प्रसङ्गापतितं संहारकारित्वमभिधाय प्रकृतमेवानुबध्नाति

पञ्चारे सविकारोऽथ
भूत्वा सोमस्रुतामृतात् ॥१३७॥

धावति त्रिरसाराणि
गुह्यचक्राण्यसौ विभुः ।

अथासौ — हंसशब्दव्यपदेश्यो, विभुः — परमात्मा शिवः स्वस्वातन्त्र्याद्गृहीतसंकोचः, पञ्चारे — पाञ्चभौतिके शरीरे, समनन्तरोक्तयुक्त्या सोमस्रुतेनामृतेनाप्यायितत्वात् सविकारो भूत्वा, जन्मादिविकारयोगाद्वर्धमानः सन्, त्रिरसाराणि

' अम्बुवाहा वहेद्वामा मध्यमा शुक्रवाहिनी ।
दक्षस्था रक्तवाहा च ……………… ॥ '

इत्याद्युक्त्या त्रयोऽम्बुप्रभृतयो रसाः, तत्संख्या नाडिरूपाश्चारा येषां तथाविधानि, यद्वा वियुतत्वे त्र्यराणि, यामलत्वे षडराणि, अप्रकाशत्वाद्गुह्यानि, अत एव रहस्यरूपाणि जन्मस्थानप्रभृतीनि चक्राणि, धावति — जगत्सिसृक्षया तदौन्मुख्येन प्रवर्तते इत्यर्थः ॥ १३७ ॥

ननु यदि नामायं जगत्सिसृक्षुः, तत्तदौन्मुख्येन प्रवृत्त्यास्य कोऽर्थः? इत्याशङ्क्याह

यतो जातं जगल्लीनं
यत्र च स्वकलीलया ॥ १३८ ॥

यतो – येभ्यो गुह्यचक्रेभ्य एव, स्वकलीलया– स्वस्वातन्त्र्यात्, जगज्जातम् – अतिरेकायमाणतयोल्लसितं, तथात्वेऽपि अवभासनान्यथानुपपत्त्या तदनतिरिक्तमेवेत्युक्तम् 'यत्रैव च लीनमिति' एवमेतदेव जगत्सिसृक्षोः परमात्मनः परमेश्वरस्य परं कारणम्, इति तात्पर्यार्थः ॥ १३८ ॥

न केवलमेषां बाह्यौन्मुख्य एव साधकतमत्वं, यावत् स्वात्मविश्रान्तावपि, इत्याह

तत्रानन्दश्च सर्वस्य
ब्रह्मचारी च तत्परः ।
तत्र सिद्धिश्च मुक्तिश्च
समं संप्राप्यते द्वयम् ॥ १३९ ॥

सर्वस्येति – पामरादेरपीत्यर्थः, तत्परः – तदेकपरायणः, पुनः ज्ञानी योगी वा ब्रह्मचारी

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्....................... ।'

इत्याद्युक्त्या आनन्दरूपं ब्रह्म चरति – परब्रह्मैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः, अत एव सिद्धिः – ऐहिक्यानन्दरूपा, मुक्तिः – ब्रह्मचारित्वरूपा, सममिति आनन्दस्यैव ब्रह्मरूपत्वात् ॥१३९॥

ननु एवं विश्वसृष्टिरेकस्मादेव अस्माज्जन्मस्थानाख्याद्गुह्यचक्रात् अस्य सिद्ध्येत्, इति किमर्थं 'गुह्यचक्राणि' इति वहुवचनेनायं निर्देशः? इत्याशङ्क्याह

अत ऊर्ध्वं पुनर्याति
यावद्ब्रह्मात्मकं पदम् ।
अग्नीषोमौ समौ तत्र
सृज्येते चात्मनात्मनि ॥१४०॥

अतो – यथोक्ताज्जन्मस्थानाख्याद्गुह्यचक्रात्,

पुनरूर्ध्वं – ब्रह्मात्मकं परं पदं द्वादशान्ताव-स्थितं, शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगि विसर्गशब्दव्यपदेश्यं गुह्यचक्रं यावत्, याति– तदौन्मुख्येन प्रवर्तते इत्यर्थः, चो हेतौ, तत्र हि आत्मना हंसशब्दव्यपदेश्येन परमेश्वरेणात्म-नि – स्वभित्तौ, अहन्तेदन्तास्वभावौ प्रमातृप्र-मेयात्मानावग्नीषोमौ समौ सृज्येते,

'सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदंधियोः ॥'

इत्यादिन्यायेन तुल्यकक्ष्यतयावभास्येते इत्यर्थः ॥ १४० ॥

यदा पुनः सोमात्मनः प्रमेयस्योद्रेकस्तदा विश्वोल्लास इत्याह

तत्रस्थस्तापितः सोमो
द्वेधा जज्ञे व्यवस्थितः ।

तत्र – साम्यावस्थायामवस्थितः, प्रमेयात्मा सोमो, द्वेधा भासितो – भेदेन समुत्तेजितः सन्,

जङ्घे व्यवस्थितः—पृथ्वीतत्त्वपर्यन्तेन विश्वात्मना स्थूलेन रूपेणोल्लसित इत्यर्थः ॥

कथं चैतत्? इत्याह

अधस्तं पातयेदग्नि-
रमृतं स्रवति क्षणात् ॥१४१॥
गुल्फजान्वादिषु व्यक्तं
कुटिलार्कप्रदीपिता ।
सा शक्तिस्तापिता भूयः
पञ्चारादिक्रमं सृजेत् ॥१४२॥

अध इति—बहीरूपतायाम्, तमिति—सोमम्, अमृतं स्रवतीति—अर्थादग्नितापितः सोमो, यतः सा प्राणकुण्डलिनीरूपत्वात् कुटिला सोमात्मिका क्रियारूपा शक्तिः, अर्केण—प्रमात्रैव प्रमाणदशामधिशयानेन, प्रदीपिता—बहिरुल्लिलासयिषया प्रबोधिता, अत एव भूयः—पुनस्तापिता बहीरूपत्वेनैवोत्तेजिता सती, प-

श्वारादिक्रमं सृजेत्—पञ्चभूतात्म विश्वमवभासयेदित्यर्थः ॥ १४२ ॥

एतदिन्द्रियान्तरेष्वपि अतिदिशति

एवं श्रोत्रेऽपि विज्ञेयं
यावत्पादान्तगोचरम् ।

पादान्तगोचरमित्यनेन कर्मेन्द्रियाणामप्येवंरूपत्वम्, इत्युक्तम् ॥

न केवलं प्रमाणरूपेष्विन्द्रियेष्वेवंरूपत्वमस्ति यावत्प्रमेयात्मसु पञ्चभूतेष्वपि, इत्याह

पादाङ्गुष्ठात्समारभ्य
यावद्ब्रह्माण्डदर्शनम् ॥ १४३ ॥

पादाङ्गुष्ठादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रान्तं पञ्चभूतात्मके शरीरेऽप्येवं विज्ञेयम्, इति प्राच्येन संबन्धः । एवं मेयदशायामपि परैव संविद्ग्राह्याकारा वर्तते इत्यत्रापि एतदेव प्रमाणम् इत्यर्थसिद्धम्, अत एवोत्तरत्र संवादयिष्यते ॥ १४३ ॥

नन्विन्द्रियादीनामेवंरूपत्वेनाभिहितेन कोऽ-
र्थः? इत्याशङ्क्याह

इत्यजानन्नैव योगी
जानन्विश्वप्रभुर्भवेत् ।
ज्वलन्निवासौ ब्रह्माद्यै-
र्दृश्यते परमेश्वरः ॥ १४४ ॥

ब्रह्माद्यैरिति—एतत्स्फार एव हि सर्वलोक
इति भावः, अत्र चान्तरान्तरावस्थितोऽपि चर्या-
क्रमः सुस्पष्टत्वात् रहस्यत्वाच्च न तथा वितानि-
तः—इति स्वयमेवावधार्यम् ॥ १४४ ॥

एवं संवादिते आगमे तात्पर्यार्थं व्याचष्टे

अत्र तात्पर्यतः प्रोक्त-
मक्षे क्रमचतुष्टयम् ।
एकैकत्र यतस्तेन
द्वादशात्मकतोदिता ॥ १४५ ॥

एकैकत्राक्षे इति—समस्तेष्विन्द्रियेषु इति यावत्, तेन सृष्ट्यादिक्रमचतुष्टयस्य मातृमानमेयगतत्वेन प्रत्येकमवस्थानेन हेतुना, यतो—यस्मात्, एकैकत्राक्षे द्वादशात्मकतोदिता—एकमेकमिन्द्रियं द्वादशमरीचिरूपमित्यर्थः ॥१४५॥

ननु तात्पर्यार्थव्याख्यानमेव कस्मात्कृतम्? इत्याशङ्क्याह

न व्याख्यातं तु निर्भज्य
यतोऽतिसरहस्यकम् ।

न केवलं परैव संवित् प्रमाणदशायां ग्रहणाकारा यावत्प्रमेयदशायामपि ग्राह्याकारा, इत्याह

मेयेऽपि देवी तिष्ठन्ती
मासराश्यादिरूपिणी ॥१४६॥

आदिशब्देन द्वादशसंख्यावच्छिन्नानां स्वरादीनां ग्रहणम्, यदुक्तम्

'द्वादशैव स्वराः प्रोक्ता नपुंसकविवर्जिताः ।
आदित्या द्वादश प्रोक्ता द्वादशारव्यवस्थिताः ॥
मासा द्वादश इत्युक्ताः कला द्वादशसंज्ञिताः ।'

इति, तन्मेयदशायामपि अस्या द्वादशात्मकत्व-मेव, इति भावः ॥ १४६ ॥

एवमेकैवेयं परा संवित् तत्तद्रूपतया सर्वत्रा-वभासते, इत्याह

अत एषा स्थिता संवि-
दन्तर्बाह्योभयात्मना ।
स्वयं निर्भास्य तत्रान्य-
द्भासयन्तीव भासते ॥१४७॥

अतो — यथोपपादितात् सर्वत्रैव अवस्थाना-द्धेतोः, एषा — प्रत्यवमर्शात्मा परा संवित्, स्व-माहात्म्यादन्तर्बाह्योभयात्मना प्रमातृप्रमेयादि-रूपतया स्वात्मानमवभास्य स्थितापि, तत्र स्वात्मन्येव — अर्थात् प्रमातृप्रमेयादि अन्यद्व्य-तिरिक्तमिवावभासयन्ती, भासते — सर्वस्यानु-

भवसिद्धोऽयमर्थ इत्यर्थः, यद्यपि वस्तुतः परा संविदेवावभासते तदतिरेके हि न किंचिद्भायात् तथाप्यामुखे तत्स्वातन्त्र्यादेव तदतिरिक्तमिव प्रमात्रादि अवभासते येनास्या द्वादशधात्वमुल्लसितम् ॥ १४७ ॥

तदेव चेदानीं विभज्य दर्शयन्, क्रमनयसोदरतामस्य दर्शनस्यावेदयति

ततश्च प्रागियं शुद्धा
　　तथाभासनसोत्सुका ।
सृष्टिं कलयते देवी
　　तन्नाम्नागम उच्यते ॥१४८॥

ततः—परस्या एव संविदस्तत्तत्प्रमात्रादिरूपत्वेन परिस्फुरणाद्धेतोः,-तथात्वेन स्फुरणात्प्राक्, शुद्धा—प्रमात्रादिनियतरूपानारूषिता इयं 'श्रीकालसंकर्षिणी'-शब्दव्यपदेश्या परा संविद्देवी कालकलनाकलङ्कग्रसिष्णुतया द्योत-

माना, तथा स्वात्मानतिरेकेऽपि अतिरेकायमाणतया यत् स्वातन्त्र्याद्भासनं, तत्र सोत्सुका – सिसृक्षायोगिनी सती, सृष्टिं कलयते – बहिरासूत्रितप्रायं भावजातं विमृशति, अत एव तन्नाम्ना – अन्वर्थेन 'श्रीसृष्टिकाली'-शब्देन, आगमे – श्रीपञ्चशतिकादौ, उच्यते – अभिधीयते इत्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'मन्त्रोदया व्योमरूपा व्योमस्था व्योमवर्जिता ।
सर्वा सर्वविनिर्मुक्ता विश्वस्मिन्सृष्टिनाशिनी ॥
या कला विश्वविभवा सृष्ट्यर्थकरणक्षमा ।
यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टिकालीति सा स्मृता ॥'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपा-
मुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः ।
निलीयते नीलकुलालये या
तां सृष्टिकालीं सततं नमामि ॥'

इति ॥ १४८ ॥

एवं प्रमेयगतं सृष्टिस्वरूपमभिधाय, स्थिति-स्वरूपमप्यभिधातुमाह

तथा भासितवस्त्वंश-
रञ्जनां सा बहिर्मुखी ।
स्ववृत्तिचक्रेण समं
ततोऽपि कलयन्त्यलम् ॥ १४९ ॥
स्थितिरेषैव भावस्य............

ततः – श्रीसृष्टिकाल्युदयानन्तरमपि, सा – परैव प्रमात्रेकरूपा संवित्, बहिर्मुखी – स्वस्वा-तन्त्र्यात् प्रमाणदशामधिशयाना, स्वमात्मीयं यच्चक्षुरादीन्द्रियसंबन्धि रूपाद्यालोचनात्मकं वृ-त्तिचक्रं, तेन समं – तथातिरेकायमाणतया भा-सितं यद्विश्वलक्षणं वस्तु, तस्य ये

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि ।'

इत्याद्युक्त्या रूपाद्या अंशाः तत्कर्तृकां रञ्जनाम्, अलम्–अत्यर्थम्, आत्मविषयतयापि कलयन्ती,

अविकल्पवृत्त्या जानाना सती 'मानं हि नाम मेयोपरञ्जितमेव भवेत्' इत्यविवादः, मानात्मना च बहिर्मुखेन रूपेण मातैव स्फुरेदिति, तस्यापि तद्द्वारेणैव मेयोपरञ्जनं, न पुनः—साक्षादिति भावः, एषैव रूपादेर्भावजातस्य स्थितिः—अवभासनात्मिका व्यक्तिरित्यर्थः, मेयं हि नाम स्वात्मनि न किंचिदिति प्रमाणोपारोहेणैव अस्य स्थितिः स्यात् इति—एवकाराशयः, एवंविधा चेयं मेये एवासक्त्या रक्तकालीशब्दव्यपदेश्या, इति अत्रापि तन्नाम्ना आगम उच्यते, इति प्राच्येन संबन्धः, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'न चैषा चक्षुषा ग्राह्या न च सर्वेन्द्रियस्थिता ।
निर्गुणा निरहङ्कारा रञ्जयेद्विश्वमण्डलम् ॥
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्तकालिका ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'महाविनोदार्पितमातृचक्र-
वीरेन्द्रकासृग्रसपानसक्ताम् ।

रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां
　　नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ॥'

इति। ननु सर्वत्रैवान्यत्र श्रीसृष्टिकाल्यनन्तरं श्रीस्थितिकाल्या अभिधानम्, यदुक्तं श्रीसार्धशतिके

'द्वादशारं महाचक्रं रश्मिरूपं प्रकीर्तितम्।
नाम चैव प्रवक्ष्यामि रश्मीनां तु यदास्थितम्॥
सृष्टिः स्थितिश्च संहारो रक्तकाली तथैव च।
स्वकाली यमकाली च मृत्युकाली तथैव च॥
रुद्रश्च परमार्कश्च मार्तण्डश्च ततः परः।
कालाग्निरुद्रकाली च महाकाल्यभिधा पुनः॥
महाभैरवशब्दश्च घोरशब्दस्ततः परः।
चण्डकालीपदं चान्ते त्रयोदश उदाहृताः॥'

इति, तत्कथमिह तदनन्तरं श्रीरक्तकाल्यादिनिर्देशः कृतः, एवं हि आगमविरोधः स्यात्? सत्यं – किं तु आगमे संवित्क्रमगोपनार्थम् आलूनविशीर्णतयैवमभिधानं, यथा श्रीपञ्चशतिके स्थितिक्रमेऽपि, यदेव चानुसृत्य महागुरुभिः पू-

जाक्रमः प्रक्रान्तः, इह तु पूजाक्रमगोपनाय स्वशय्ययैव स्थापनं, यदधिकृत्य संवित्क्रमः परि-निष्ठितिमियात्, अत एवागमैकशरणतया प्रवृत्तेऽपि श्रीक्रमस्तोत्रे ग्रन्थकृतां संवित्क्रममेव प्रदर्शयितुं तद्विवृतौ श्रीसृष्टिकाल्यादिस्तुतिश्लोकव्याख्यानानन्तरं श्रीरक्तकाल्या भगवत्याः अतः परं स्थितिः संभाव्यते इत्याद्युक्तम्, इह पुनः संवित्क्रमाभिप्रायेणैव मुक्तकण्ठमेवमभिधानम्, इति न कश्चिद्दोषः ॥ १४९ ॥

एवं प्रमेयगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहार-स्वरूपमप्यभिधातुमाह

तामन्तर्मुखतारसात् ।
संजिहीर्षुः स्थितेर्नाशं
कलयन्ती निरुच्यते ॥ १५० ॥

सैव परा संविद्देवी, तां—प्रमाणरूपां रक्तयपरपर्यायां स्थितिम्, अन्तः प्रमात्रेकात्मतायामौन्मुख्ये 'ज्ञातो मयार्थ' इति स्वात्मविश्रान्ति-

चमत्कारात्मनो रसात्, संहर्तुमिच्छुः — आत्मसाच्चिकीर्षुः, अत एव 'स्थितेर्नाशं कलयन्ती निरुच्यते' श्रीक्रमभट्टारकादौ स्थितिनाशकालीशब्दव्यपदेश्येत्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्र-
प्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम् ।
शुचिर्ययास्तं गमितोऽर्चिषा तां
शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम् ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'हासिनी पौद्गली येयं वालाग्रशतकल्पना ।
कल्पते सर्वदेहस्था स्थितिः सर्गस्य कारिणी ॥
यदुत्पन्ना तु सा देवी पुनस्तत्रैव लीयते ।
तां विद्धि देवदेवेश स्थितिकालीं महेश्वर ॥'

इति ॥ १५० ॥

एवं प्रमेयगतं संहारस्वरूपं निरूप्य, अनाख्यस्वरूपमप्याह

ततोऽपि संहाररसे
पूर्णे विघ्नकरीं स्वयम् ।

शङ्कां यमात्मिकां भागे
सूते संहरतेऽपि च ॥ १५१ ॥

ततः — श्रीस्थितिनाशकाल्युदयानन्तरमपि, एवमुक्तरूपस्य संहारस्य प्रमातृतात्मनि रसे, पूर्णे — परां धारामधिरूढे, सैव परिगृहीतपरिमितप्रमातृभूमिका संवित्, स्वयं — स्वस्वातन्त्र्यमहिम्ना, बहिरौन्मुख्यात्मन्येकस्मिन् भागे, यमयति 'इदं कार्यमिदं न' इति नियतावव्यवस्थापयति, इति यमो — विकल्पः, तदनुप्राणिता येयं शङ्का — शास्त्राणामानन्त्यात् कार्याकार्यविभागस्य विपर्ययेणापि दर्शनात् किंकर्तव्यतया मूढतात्मा विचिकित्सा, अत एव

'.......................... शङ्कया विघ्नभाजनम् ।'

इत्याद्युक्त्या स्वस्वरूपानुप्रवेशे विघ्नकरी, तां सूते — प्रमेयकक्ष्यापर्यन्तमुल्लासयति, अन्तर् — औन्मुख्यात्मनि द्वितीयस्मिन्भागे च, संहरते — विगलितनियतिसंकोचविधिनिषेधाविषयपरसं-

चिदात्मना स्वेनैव विकस्वरेण रूपेण परिस्फुरति

'रासभ्या मूत्रकाले तु योनिः प्रस्पन्दते यथा ।'

इत्याद्युक्तवदनवरतमेव संकोचविकासमयतया अनियतेन रूपेणाख्यातुमशक्या, इत्येवं यमं कलयन्ती 'यमकालीति' निरुच्यते, इति पूर्ववदाक्षेपः, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'यमरूपस्वरूपस्था रूपातीतस्वरूपगा ।
सा कला लीयते यस्यां यमकाली तु सा स्मृता ॥'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य
यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय ।
वपुर्महाग्रासविलासरागात्
संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ॥'

इति । एवं प्रमेयांशग्रासरसिकं सृष्ट्यादिदेवीचतुष्टयं निरूपितम् ॥ १५१ ॥

इदानीं तु प्रमाणांशभक्षणप्रवणं संहारादिदेवीचतुष्कं निरूपयति

संहृत्य शङ्कां शङ्कयार्थ-
वर्जं वा भावमण्डले ।
संहृतिं कलयत्येव
स्वात्मवह्नौ विलापनात् ॥१५२॥

एवं यमात्मिकां शङ्कां संहृत्य शङ्कास्थानं वा शङ्क्यान्—कार्याकार्यरूपानर्थान्, परिहृत्य—उपसंहृत्य, तन्नान्तरीयकवृत्त्या सा परैव संविद्देवी स्वात्मवह्निसात्काररलक्षणाद्विलापनाद्धेतोः, निखिलेऽपि भावमण्डले, संहृतिं कलयत्येव, येन—श्रीपञ्चशतिकादौ संहारकालीशब्दव्यपदेश्या, इति तन्नाम्ना आगम उच्यत, इति दूरेण संबन्धः, तदुक्तं तत्र

'चण्डकाली शुद्धवर्णा यामृतग्रसनोद्यता ।
भावाभावविनिर्मुक्ता विश्वसंहाररूपिणी ॥
यत्र सा याति विलयं सा च संहारकालिका ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा
या भावसंहारनिमेषमेति ।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां
संहारकालीं मुदितां नमामि ॥'

इति ॥ १५२ ॥

कीदृक् चात्रोपसंह्रियमाणानां भावानां कलनम्? इत्याशङ्क्याह

विलापनात्मिकां तां च
भावसंहृतिमात्मनि ।
आमृशत्येव येनैषा
मया ग्रस्तमिति स्फुरेत् ॥१५३॥

स्वयमेव हि नाम भावानां संविद्विलीनतोत्पादनात्मा संहारो – यद्बहीरूपताविलापनेन प्रमाणदशामधिशयानायां संवित्तावभेदेन परामर्शनं, यत एवेयं संवित् 'मयैतदर्थजातमात्मनि अभेदेनावभासितम्' इत्येवं स्फुरत्तारूपा भवेत्, इत्युक्तं 'येनैषा मया ग्रस्तमिति स्फुरेदिति'

इयमेव हि संविदः प्रमाणरूपतायां सृष्टिः—यत् तत्तदर्थोरूषिता चकास्यादिति ॥ १५३ ॥

एवं प्रमाणगतं सृष्टिस्वरूपमभिधाय, स्थितिस्वरूपमप्यभिधातुमाह

संहार्योपाधिरेतस्याः
स्वस्वभावो हि संविदः ।
निरुपाधिनि संशुद्धे
संविद्रूपेऽस्तमीयते ॥१५४॥

एवं संहरणीये संहृतेऽपि, एतस्याः—प्रमाणमय्या निखिलार्थसंहर्तृत्वात् मृत्युरूपायाः संविदः, संहरणीयकार्याकार्याद्यर्थावच्छिन्नो, यः स्वः सर्वत एवासाधारणः स्वभावः, स स्वांशसंविद्विश्रान्तिमन्तरेण स्थितिमेव न यायात्, इति प्रमेयमिव प्रमाणे निरुपाधिनि—तत्तदर्थानारूषिते, अत एव संशुद्धे—प्रमात्रात्मनि, संविद्रूपे 'अस्तमीयते'—तत्रैव रक्तिरूपां विश्रान्तिं ग-

च्छेत् येनास्याः संहर्तृत्वमेव व्यवतिष्ठते, इत्येवं मृत्युरूपाया अपि संविदः कलनात् 'मृत्युकालीति' सर्वत्रेयमुद्घोष्यते, इत्यर्थत एतल्लब्धम्, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'ओमित्येषा कुलेशानी मृत्युकालान्तपातिनी ।
मृत्युकालकला यस्याः प्रविशेद्विग्रहं शिव ॥
तदा सा मृत्युकालीति ज्ञेया गिरिसुताधव ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'ममेत्यहंकारकलाकलाप-
विस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः ।
ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां
नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम् ॥'

इति ॥ १५४ ॥

एवं प्रमाणगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्याह

विलापितेऽपि भावौघे
कंचिद्भावं तदैव सा ।

आश्यानयेद्य एवास्ते
शङ्का संस्काररूपकः ॥१५५॥
शुभाशुभतया सोऽयं
सोष्यते फलसंपदम् ।

एवं हि निरुपाधिशुद्धप्रमातृसंविद्विश्रान्त्या संहृतेऽपि कार्यरूपे भावौघे, सा परा संवित् तद्विलापनसमनन्तरमेव कंचित् प्रतिनियतरूपं भावमाश्यानयेत्—विलापितत्वेऽपि कथंचिद्भेदावभासात्मतया घनतामापादयेत्, य एवाश्यानीभूतः संस्काररूपतया वर्तमानः 'शङ्का' आस्ते—तन्निमित्ततया अवतिष्ठते इत्यर्थः, यद्वशादेव विचित्राचारप्रदर्शकेष्वनन्तेषु शास्त्रेषु कार्याकार्यविभागनिश्चयमलभमानस्य प्रमातुः

'अधर्मं धर्ममिति या बुद्ध्यते तमसावृता ।'

इत्यादिदृशा यदेव यथा हृदये प्ररोहति तदेव तस्य तथा फलेत्—इति स एवायं शङ्कानिमित्तं कार्याकार्यलक्षणप्रतिनियतभावाहितः सं-

स्कारः प्रबुद्धः सन् शुभाशुभरूपां फलसंपदं जनयिष्यते, येनायं लोकः स्वर्निरयादिपात्रतया सुखदुःखादिभोक्तृतामियात् ॥ १५५ ॥

नन्वेवं शङ्कमानः प्रमाता कार्याकार्ययोर्निश्चयानुत्पादात् न किंचिदप्यनुतिष्ठेत्, इति किमस्य शुभाशुभतया फलेत्? इत्याशङ्क्याह

पूर्वं हि भोगात्पश्चाद्वा
　　शङ्केयं व्यवतिष्ठते ॥१५६॥

इह सर्वस्य लोकस्य नानात्वेन कार्याकार्ययोः श्रुतेः सुखदुःखाद्यनुभवात् पूर्वमेव तावच्छङ्का जायते 'किमनुष्ठेयं मया' इति, स्वसंस्कारप्रबोधतारतम्यात्तु कुत्रचिदेव कस्यचित्तन्निश्चयः समुत्पद्यते, तदनुष्ठानादस्य शुभाशुभफलभागितया सुखदुःखादौ भोक्तृता स्यात्, तदनन्तरं च दुःखाद्युपघातादेवमस्य शङ्का संप्रजायते 'यदकार्यमेव नूनं मया कार्यतयानुष्ठितं, येनैवमस्मि दुःखपराभूतो जातः' इति, ततश्च पूर्वं कृतमपि

ब्राह्मणालम्भनादि तत्कालमेवेयं शङ्का शिथिलयति, येन तदनुशयवशाच्छुभमशुभं वा फलं दातुं न शक्नुयात् ॥ १५६ ॥

तदेवाह

अन्यदाऽऽश्यानितमपि
तदैव द्रावयेदियम् ।
प्रायश्चित्तादिकर्मभ्यो
ब्रह्महत्यादिकर्मवत् ॥ १५७ ॥

न च मितः प्रमाता तदीयो वा चैतसिकः शङ्काख्यो धर्म एवं विधातुमुत्सहते, इत्याह

रोधनाद्द्रावणाद्रूप-
मित्थं कलयते चितिः ।

एवं संस्कारात्मनावस्थितस्यापि अर्थस्य, रोधनाद्द्रावणाच्च इयं परा संविदुक्तेन प्रकारेण रूपं कलयन्ती श्रीक्रमसद्भावभट्टारके 'रुद्रकालीति' व्यपदिष्टेत्यर्थः, तदुक्तं तत्र

'इदं सर्वमसर्वं यत्संहारान्तं तु नित्यशः ।
कुटिलेक्षणरेखान्तग्रस्तमस्तमितं च यत् ॥
ततो बोधरसाविष्टा स्पन्दमाना निराकुला ।
दीधितीनां सहस्रं यद्वमेच्च पिबते भृशम् ॥
सा कला लीयते यस्यां रुद्रकालीति सा स्मृता ।'

इति, श्रीपञ्चशतिकादौ पुनरियं 'भद्रकाली' इत्युक्ता, इति नाम्नि भेदेऽपि वस्तुनि न कश्चिद्भेदो, यद्रुद्धं वार्थं द्रावयेद्भिन्नं वा, इत्युभयथापि अर्थानुगम इति, तदुक्तं तत्र

'गमागमसुगम्यस्था महाबोधावलोकिनी ।
मायामलविनिर्मुक्ता विज्ञानामृतनन्दिनी ॥
सर्वलोकस्य कल्याणी रुद्रा रुद्रसुखप्रदा ।
यत्रैव शाम्यति कला रुद्रकालीति सा स्मृता ॥
भेदस्य द्रावणाद्भद्रा भद्रसिद्धिकरीति या ।'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'विश्वं महाकल्पविरामकल्प-
भवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या ।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां
नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम् ॥'

इति ॥

न केवलमियमाश्यानीभावेन रुद्धमेवार्थं द्रावयेत्, यावद्द्रावितमपि रोधयेत्, इत्याह

तदपि द्रावयेदेव
तदप्याश्यानयेदथ ॥ १५८ ॥

एवं चात्र प्रमाणरूपत्वेऽपि तत्तदर्थसंहारकारिणः प्रमातुरेव प्राधान्यं, येन ग्रन्थकृतो रुद्रशब्दे भरः ॥ १५८ ॥

एवं प्रमाणगतं संहारस्वरूपं निरूप्य, अनाख्यस्वरूपमपि निरूपयितुमाह

इत्थं भोग्येऽपि संभुक्ते
सति तत्करणान्यपि ।
संहरन्ती कलयते
द्वादशैवाहमात्मनि ॥ १५९ ॥

एवमुपसंहृतेऽपि अर्थे तत्परिच्छेदकारीणि द्वादशापि करणाणि संहरन्ती संवित् अहमा-

त्मन्यहंकारे, कलयते – तत्रैव लीनतां नयेदि-
त्यर्थः ॥ १५९ ॥

ननु कान्येतानि द्वादश करणानि, किं चैषां करणत्वम्? इत्याशङ्क्याह

कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि
बुद्ध्यन्तो द्वादशात्मकः ।
प्रकाशकत्वात्सूर्यात्मा
भिन्ने वस्तुनि जृम्भते ॥१६०॥

बुद्ध्यन्त इति – मनसा सह, प्रकाशकत्वा-
दिति – अर्थालोचनात्मनः, सूर्यात्मेति –

'सूर्यं प्रमाणमित्याहुः ………………… ।'

इत्याद्युक्त्या प्रमाणरूप इत्यर्थः, भिन्नं प्रमेयं परिच्छिन्दच्च प्रमाणमुच्यते इत्युक्तं 'भिन्ने व-
स्तुनि जृम्भते' इति ॥ १६० ॥

नन्वहंकारस्यापि अन्तःकरणान्तःपातः सम-
स्ति, इति कथं 'द्वादशैव करणानि' इत्युक्तम्?
इत्याशङ्क्याह

अहंकारस्तु करण-
मभिमानैकसाधनम् ।
अविच्छिन्नपरामर्शी
लीयते तेन तत्र सः ॥१६१॥

अहंकारः पुनर् 'अहं शृणोम्यहं पश्यामि' इत्याद्यभिमानैकसाधनत्वात् अविच्छिन्नतया प्रमात्रभेदेन विशेषानुपादानात् सर्वस्यार्थस्य परामर्शनशीलः करणम्, इत्यसौ द्वादशविधोऽपि करणवर्गः तत्राहंकारे लीयते – तदेकविश्रान्तो भवेदित्यर्थः ॥ १६१ ॥

ननु करणत्वाविशेषेऽपि बुद्ध्यादिरेव करणवर्गः कथंकारमहंकारे लीयते? इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेनोपशमयति

यथाहि खड्गपाशादेः
करणस्य विभेदिनः ।

अभेदिनि स्वहस्तादौ
लयस्तद्वदयं विधिः ॥१६२॥

इह करणस्य व्यतिरिक्तत्वे किं प्रेर्यत्वं न वा, तत्र अप्रेर्यत्वे सर्वस्यापि तथा प्रसङ्गः, प्रेर्यत्वे च प्रेरणक्रियायां कर्मत्वं स्यात्, न करणत्वम्, न च अकरणिका क्रिया भवेत्, इति तत्रापि करणान्तरेण भाव्यम्, इत्यनवस्था स्यात्, तद्व्यतिरिक्तस्यापि खङ्गादेः करणस्य यथा कर्त्रभिन्नहस्ताद्यभेदभावनया करणत्वं घटते, तथा अहमंशस्पर्शितया प्रमात्रभेदिन्यहंकारेऽपि बुद्ध्यादेर्लयात्, इति युक्तमुक्तम्—अहंकारे बुद्धिर्लीयते इति ॥ १६२ ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

तेनेन्द्रियौघमार्तण्ड-
मण्डलं कलयेत्स्वयम् ।

संविद्देवी स्वतन्त्रत्वा-
त्कल्पितेऽहंकृतात्मनि ॥१६३॥

तेन—उक्तेन क्रमेण, स्वस्वातन्त्र्यात् स्वयं, न तु परिमितप्रमात्रादिव्यवधानेन, संविद्देवी द्वादशसंख्यावच्छिन्नं बुद्ध्यादीन्द्रियमार्तण्डमण्डलं देहादावभिनिवेशात्कल्पितेऽहंकृतात्मनि कलयेत्—तदेकमयतामापादयेत्, येन श्रीक्रमस्तोत्रादौ इयं 'मार्तण्डकाली' इत्युच्यते, तदुक्तं तत्र

'मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं
पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय ।
करोति या विश्वरसान्तकां तां
मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'शब्दब्रह्मपदातीता षट्त्रिंशान्तनवान्तगा ।
ब्रह्माण्डखण्डादुत्तीर्णा मार्तण्डी मूर्तिरव्यया ॥
सा कला लीयते यस्यां मार्तण्डी कालिकोच्यते ।'

इति ॥ १६३ ॥

एवं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं देवीचतुष्टयं निरूपितम्, इदानीं प्रमात्रंशचर्वणाचतुरं देवीचतुष्टयं निरूपयति

स एव परमादित्यः
　　पूर्णकल्पस्त्रयोदशः ।
करणत्वात्प्रयात्येव
　　कर्तरि प्रलयं स्फुटम् ॥१६४॥

एवमहंकारनाम्नि परमादित्ये संहृतेषु बुद्ध्यादिषु द्वादशसु करणेषु स एवाहंकारनामा त्रयोदशः प्रमातृतोन्मुखीभावात् पूर्णकल्पः परमादित्यः करणत्वात् कर्तर्येव स्फुटं प्रलयं प्रयाति – तदेकरूपतामासादयेदित्यर्थः ॥ १६४ ॥

ननु द्विविधः कर्ता – संकुचितश्चासंकुचितश्च, तदयं कुत्र तावत् प्रलयं प्रयाति? इत्याशङ्क्याह

कर्ता च द्विविधः प्रोक्तः
　　कल्पिताकल्पितात्मकः ।

कल्पितो देहबुद्ध्यादि-
व्यवच्छेदेन चर्चितः ॥१६५॥
कालाग्निरुद्रसंज्ञास्य
शास्त्रेषु परिभाषिता ।
कालो व्यवच्छित्तद्युक्तो
वह्निर्भोक्ता यतः स्मृतः ॥१६६॥
संसाराक्लृप्तिक्लृप्तिभ्यां
रोधनाद्द्रावणात्प्रभुः।
अनिवृत्तपशूभाव-
स्तत्राहंकृत्प्रलीयते ॥१६७॥

अस्येति – देहबुद्ध्यादिव्यवच्छेदभाजः कल्पितस्य प्रमातुः, किं च अस्याः संज्ञायाः प्रवृत्तावत्र निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह 'काल' इत्यादि, व्यवच्छित् – व्यवच्छेदः, तेन कालेन तद्व्यवच्छेदेन युक्तोऽग्निर्भोक्ता, स एव च किंचिद्भोग्यसंस्कारस्याप्रबोधात् 'ममैतन्मा भूत्' इति रुण-

द्धि, प्रबोधाच्च किंचिद्द्रावयति, भोगेन स्वात्मसात्करोति इति रुद्रः, अत एव भोग्यौन्मुख्यात् अनिवृत्तपशूभावः — प्रोन्मिषदभिलाषात्मकाणवमलयोग इत्यर्थः, तत्रेति — कालाग्निरुद्रसंज्ञे संकुचिते प्रमातरि, एवमहंकारनाम्नः परमार्कस्य परिमिते कालाग्निरुद्रसंज्ञे प्रमातरि, एवंकलनात् श्रीक्रमस्तोत्रादावियं 'परमार्ककाली' इत्युच्यते, तदुक्तं तत्र

'अस्तोदितद्वादशभानुभाजि
यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव ।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति
तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम् ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्मवर्जिता ।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी ॥
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव ।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्माङ्गभूषण ॥'

इति ॥ १६५ ॥ १६६ ॥ १६७ ॥

एवं प्रमातृगतं सृष्टिस्वरूपमभिधाय स्थिति-स्वरूपमप्याह

सोऽपि कल्पितवृत्तित्वा-
द्विश्वाभेदैकशालिनि ।
विकासिनि महाकाले
लीयतेऽहमिदंमये ॥१६८॥

एवमहंकारे ग्रस्ते, तद्ग्रसितुः — कालाग्निरुद्र-शब्दव्यपदेश्यस्य कल्पितस्यापि प्रमातुर्ग्रासेन भाव्यम्, इति सोऽपि कल्पितः प्रमाता, कल्पि-तत्वादेव अहमिदंमये, अत एवाहन्तायामिद-न्ताया विश्रान्तेः विश्वाभेदैकशालिनि, अत एव विकासिनि

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादि कीटान्तम् ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपे महाकाले लीयते — परस्मिन्न-कल्पिते पूर्णाहंविमर्शमये प्रमातरि विश्रान्तो भवेदित्येवं परिमितप्रमात्रात्मनः कालाग्निरुद्र-

स्य कलनात् 'कालाग्निरुद्रकालीति' श्रीपञ्चशतिकादावियम् उच्यते, यदुक्तं तत्र

'वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला ।
अघोषा सास्वरारावा कालाग्निग्रसनोद्यता ॥
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम् ।
कालाग्निरुद्रकालीति सा ज्ञेयामरवन्दित ॥'

इति । श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र-
क्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः ।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां
तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥'

इति ॥ १६८ ॥

एवं प्रमातृगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्याह

एतस्यां स्वात्मसंवित्ता-
विदं सर्वमहं विभुः ।
इति प्रविकसद्रूपा
संवित्तिरवभासते ॥१६९॥

ततोऽन्तःस्थितसर्वात्म-
भावभोगोपरागिणी ।
परिपूर्णापि संवित्ति-
रकुले धाम्नि लीयते ॥१७०॥

एवं कालाग्निरुद्ररूपे परिमिते प्रमातरि ग्रस्ते परिपूर्णाहंभावमयस्य परप्रमातुर्महाकालस्यापि स्वविमर्शविश्रान्त्यात्मना ग्रासेन भवितव्यम्, इत्येतस्यामुक्तस्वरूपायां स्वात्मनो महाकालस्य संबन्धिन्यां संवित्तौ

'सर्वो ममायं विभव.................... ।'

इत्याद्युक्तवत् सर्वमिदमहमेवेति विभुः—विश्वाभेदैकशालिनी, अत एव प्रविकसद्रूपा या परिमितप्रमातृचर्वणाचतुरा संवित्तिः—अनुभवविशेषोऽवभासते, सापि ततः—एवमवभासानन्तरम्, अन्तः—प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानानाम्, अत एव सर्वसर्वात्मकत्वेन सर्वात्मरूपाणां भावानां यो भोगो—हठपाकक्रमेणालंग्रासयुक्त्या

स्वात्मसात्कारः, तेनोपरागिणी — संहर्त्रैकस्वभावा, अत एव परिपूर्णा, अत एव कंचिदपि प्रति भोग्यत्वागमनाद्विदिक्रियाकर्तृतारूपा वित्तिः,

'अव्ययमकुलममेयं
　विगलितसदसद्विवेककल्लोलम् ।
जयति प्रकाशविभव-
　स्फीतं काल्याः परं धाम ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपशालिन्यकुले धाम्नि लीयते — स्वात्मविश्रान्तिचमत्काररूपाहंपरामर्शदशाधिशायितामियादिति, एवं महाकालस्य कलनात् 'महाकालकालीति' श्रीक्रमस्तोत्रादावुच्यते, तदुक्तं तत्र

'नक्तं महाभूतलये श्मशाने
　दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम् ।
कालीं महाकालमलंग्रसन्तीं
　वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम् ॥'

इति । श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'ऋतोज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा ।
कलाकलङ्करहितां कालस्य कलनोद्यता ॥
यत्र सा लयमाप्नोति कालकालीति सा स्मृता ।'

इति ॥ १६९ ॥ १७० ॥

एवं प्रमातृगतं संहारस्वरूपं निरूप्यानाख्या-स्वरूपमपि निरूपयति

प्रमातृवर्गो मानौघः
प्रमाश्च बहुधा स्थिताः ।
मेयौघ इति यत्सर्व-
मत्र चिन्मात्रमेव तत् ॥१७१॥
इयतीं रूपवैचित्री-
माश्रयन्त्याः स्वसंविदः ।
स्वाच्छन्द्यमनपेक्षं
यत्सा परा परमेश्वरी ॥१७२॥

तदेवमत्र—अहंपरामर्शात्मन्यकुले धाम्नि, प्रमेयं प्रमाणं प्रमाता प्रमा च इत्येतत्सर्वं

नानारूपतयोज्जृम्भमाणं चिन्मात्रमेव – तदेक-रसतयावभासते इत्यर्थः, तत् – तस्मादियतीं प्रमात्राद्यवच्छिन्नां रूपवैचित्रीमाश्रयन्त्याः स्व-प्रकाशायाः परस्याः संविदो यदनपेक्षं

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञज्ञानशालिनी ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपमहंपरामर्शमयं स्वाच्छन्द्यं, सा प्रमेयप्रक्रियया – प्रमातृपदेन महाभैरवशब्दस्य, मेयपदेन चण्डशब्दस्य, प्रमापदेनोग्रशब्दस्य, मानपदेन घोरशब्दस्य चाक्षेपात् 'महाभैरवच-ण्डोग्रघोरकाली' या अस्मद्दर्शने पूर्णतया परा इति परमेश्वर्युक्ता, यदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'दशसप्तविसर्गस्था महाभैरवभीषणा।
संहरेद्भैरवान्सर्वान्विश्वं च सुरपूजित ॥
सान्तः शाम्यति यस्यां च सा स्याद्भरितभैरवी।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली परा च सा ॥'

इति। श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'क्रमत्रयत्वाष्टमरीचिचक्र-
संचारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरवघोरचण्ड-
कालीं कलाकाशशशाङ्ककान्तिम् ॥'

इति ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

ननु किं नामास्याः परत्वम्? इत्याशङ्क्याह

इमाः प्रागुक्तकलना-
स्तद्विजृम्भोच्यते यतः ।

अतस्तद्विजृम्भात्मकत्वादेवासां सर्वसर्वात्मकतया एकैकस्यामपि संविदि सर्वा एव संविदोऽनन्तरत्वेन वर्तन्ते, येनैकैकस्यामपि द्वादशात्मकत्वात् संचारक्रमपूजायां चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं पूज्यत्वेनोक्तम्, यदागमः

'द्वादशारावियोगेन देवीं द्वादशधा यजेत् ।'

इति, अत एव च त्रयोदशं रूपमभिधातुमवकाशलेशोऽपि नास्ति इति युक्तमुक्तं 'परमार्थतः संविद्वादशात्मैव' इति ॥

ननु क्रमदर्शने सर्वत्रैव श्रीसृष्ट्यादिदेवीनां मध्ये श्रीसुकाल्या भगवत्या अभिधानं, येनानाख्यचक्रे त्रयोदश देव्यः, अत एव श्रीमहाभैरवचण्डोग्रघोरकालीभट्टारिकायाश्च त्रयोदशत्वम्, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'डकला भीषणा रौद्रा कुलकालिनिराकुला ।
अलक्ष्या लक्ष्यनिर्लक्ष्या सुकाली नाम सिद्धिदा ॥'

इति । श्रीतन्त्रराजभट्टारकेऽपि

'सृष्टिकाली च संहारे सृष्टौ सा परमेश्वरी ।
स्थितिकाली तथा घोरा ततः संहारकालिका ॥
रक्तकाली चर्वयन्ती रक्तौघमविभेदतः ।
सुकाली यमकाली च मृत्युकाली भयावहा ॥
भद्रकाली तथा चान्या परमादित्यकालिका ।
मार्तण्डकाली कालाग्निरुद्रकालमहोल्बणा ॥
महाकालकुले काली महाभैरवकालिका ।
त्रयोदशविधा काली विज्ञेया नामभेदतः ॥'

इति, श्रीसार्धशतिकं तु समनन्तरमेव संवादितं, तदत्र क्रमनयसमानकक्ष्यत्वविवक्षाया-

मपि कथमेतद्विरुद्धमभिहितं 'द्वादशैव देव्यः' इति? अत्रोच्यते, इह—क्रमदर्शने सर्वसर्विकया अनाख्यचक्रे त्रयोदशैव देव्यः पूज्यत्वेनाभिमताः, इति तावन्नास्ति नियमः, यतः श्रीक्रमसद्भावभट्टारके अनाख्यचक्रे सप्तदश देव्यः पूज्यत्वेनोक्ताः, यदुक्तं तत्र

'कालोत्थिता महादेव सानन्दा नन्दिनी शिवा।
चिद्घना युग्ममध्यस्था अक्षरा क्षरगोचरा॥
अकुला कलयेन्नित्या कालकाली निराकुला।
सा कला लीयते यस्यां सृष्टिकाली तु सा स्मृता॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'क्रमत्रयाणां यच्चक्रं घोरघोरतरं महत्।
कालरूपं मरीच्याद्यं त्वाष्ट्रं कल्पान्तकान्तगम्॥
आचरेत्तु महाचारचातुर्येणैव तत्र च।
या कला घोरघोरोग्रा तस्याः सा तुर्यगा शिवा॥
महाभैरवघोरस्य चण्डरूपस्य सर्वतः।
ग्रसते या महाकाली द्यष्टका कालनाशिनी॥
सप्तादशी तु सा काली विद्धि सर्वार्थकारिणी।'

इति, अत एव च 'एतदाशयेन श्रीस्तोत्रकारस्य पूजाक्रमः, इति न ग्राह्यम्, यदाहुः

'श्रीक्रमसद्भावादिक-
शास्त्राशयतश्च पत्रिका अत्र ।
श्रीस्तोत्रकारभास्कर-
कुलधरपूर्वासु संततिषु ॥'

इति, अस्य हि अनाख्यचक्रे त्रयोदश देव्यः पूज्यतया अभिमता द्वादश वा, यदधिकारेण अयं विचारः प्रक्रान्तः, एवमिह श्रीसुकालीं विना द्वादशैव देव्यः पूज्यतया यद्युक्ताः, तत्को दोषः, यदागमः

'यत्सृष्टिस्थितिसंहाररक्तैश्च यममृत्युभिः ।
रुद्रमार्तण्डपरमादित्यकालाग्निरुद्रकैः ॥
पदैश्च समहाकालैः कालीशब्दान्तयोजितैः ।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकालीपदं नयेत् ॥'

इति । एवं क्रमकेलावप्येतद्गर्भीकारेण यदनेन ग्रन्थकृता व्याख्यातं तत्रापि अन्यथा न किंचित्संभाव्यं, यतोऽत्रास्य 'श्रीगोविन्दराज-श्रीभा-

नुकादिक्रमेण' बहुशाखमेवं गुरूपदेशः समस्तीति, योऽद्यापि महात्मनां महागुरूणां हृदयपथे शतशः परिपोस्फुरीति, यदुक्तं तत्रैवानेन—यथैकः श्रीमान् वीरवरः सुगृहीतनामधेयो 'गोविन्दराजाभिधानः' 'श्रीभानुकाभिधानो' द्वितीयः श्रीमान् 'एरकसमाख्यः' तृतीयः सममेवोपदेशं पीठेश्वरीभ्य उत्तरपीठलब्धोपदेशात् श्रीशिवानन्दनाथाल्लब्धानुग्रहाभ्यः 'श्रीकेयूरवती-श्रीमदनिका-श्रीकल्याणिकाभ्यः प्रापुवन्तः। तत्राद्यः प्राप्तोपदेश एवैवं मनस्यकार्षीत्—एतावत्यधिगते किमिदानीं कृत्यमस्तीति, इत्थं च निष्ठितमना यावज्जीवमुपनतभोगातिवाहनमात्रव्यापार एतद्विज्ञानोपदेशपात्रशिष्टोपदेशप्रवणः शरीरान्तं प्रत्यैक्षिष्ट, स चेदं रहस्यं 'श्रीसोमानन्दाभिधानाय' गुरवे संचारयां बभूव। द्वितीयोऽपि एवमेवास्त, तस्यैव चैषा 'श्रीमदुज्जटोद्भट्टादिनानागुरुपरिपाटीसंततिः, यत्प्रसादासादितमहिमभिरस्माभिरेतत्

प्रदर्शितम् । 'श्रीमानेरकस्तु' सिद्ध्यै प्रायतत, यावत्सिद्धः सन् एवं मनसा समर्थयते स्म — किं भोगैः, यत्—अयं महान् क्लेशो मयानुभूतः, कथमहं सब्रह्मचारिवद्यावज्जीवं प्रपन्नलोकोद्धरणमात्रपर एव नाभवम्, यतः

'श्रीमत्सदाशिवपदेऽपि महोग्रकाली
भीमोत्कटभ्रुकुटिरेष्यति भङ्गभूमिः ।
इत्याकलय्य परमां स्थितिमेत्य काल-
संकर्षिणीं भगवतीं हठतोऽधितिष्ठेत् ॥'

तदिदानीमपि निजभावगतरहस्योपदेशं स्तोत्रमुखेनापि तावत्प्रसारयंल्लोकाननुगृह्णीयाम् इति, अतश्चास्य एवं गुरुक्रममजानानैरद्यतनैः

'श्रीभूतिराजनामा-
प्याचार्यश्चक्रभानुशिष्योऽन्यः ।
अभिनवगुप्तस्य गुरो-
र्यस्य हि कालीनये गुरुता ॥'

इत्यादि यदुक्तं तत् स्वोत्प्रेक्षितमेव—इत्युपेक्ष्यम् । नहि श्रीचक्रभानुना प्रायः कस्यचिदपि एवमुपदिष्टं — तन्मूलतयैव इदानीमस्योपदेशस्य श-

तशो दर्शनात्, तत्रापि चात्र श्रीभूतिराजस्या-
न्यथा पूजाक्रम इति

'देवीपञ्चशताशय-
माश्रित्य च भूतिराजपूर्वाणाम्।'

इत्यभिदधद्भिर्भवद्भिरेवोक्तम्, अथात्र 'द्वाद-
शैव देव्यः पूज्यतया स्थिताः' इत्यभिप्रेतं भ-
वतस्तर्हि श्रीपञ्चशतिकार्थमपि न जानीषे—तद्ग-
च्छ, स्वगुरुं पृच्छ, किमस्मदाविष्कृतेन, श्रीदेवी-
पञ्चशातिकेऽपि अस्य श्रीसोमानन्दभट्टपादेभ्यः
प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः, इति—न तत्राप्य-
स्य श्रीभूतिराजो गुरुत्वेन स्थितः, न च 'असा-
वस्य न गुरुः' यद्वक्ष्यति

'अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः प्रत्ययदायिनी।
शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत्॥'

इति,

'एतद्विद्यात्रयं श्रीमद्भूतिराजो न्यरूपयत्।
यः साक्षादभजच्छ्रीमाञ्छ्रीकण्ठो मानुषीं तनुम्॥'

इति च, किं त्वत्र नेति निश्चयः, किं च श्रीमद-वतारकनाथेन श्रीककारदेवीवत् श्रीमदनिका-श्रीकल्याणिके चानुगृहीते, इत्यपि अतोऽवसि-तम्, तदेष

‘क्रमकुलचतुष्टयाश्रय-
भेदाभेदोपदेशतो नाथः ।
सप्तदशैव शिष्या-
नित्थं चक्रे सवंशनिर्वंशान् ॥’

इति नियमो न न्याय्यः—शिष्यद्वयस्यास्याप-रिगणनात् अन्यस्यापि कस्यचिच्छिष्यस्य संभा-व्यमानत्वात्, एवं

‘श्रीकेयूरवतीतः
प्रभृति श्रीचक्रभानुशिष्यान्तम् ।
संततयोऽतिनयस्य
प्रथिता इह षोडशैवेत्थम् ॥’

इत्यादावपि ज्ञेयम्, तथाहि—अत्र श्रीककार-देव्यास्तस्याः

‘प्रकृतमहानयशिष्याः
प्रथितास्त्रयः सवंशास्तु ।’

इति त्रय एव शिष्याः इति न वाच्यं—श्रीगोविन्दराजश्रीभानुकयोरपि एतच्छिष्यत्वात् नवेरकनाथश्चास्या अपि शिष्यः, यदाहुः

‘यस्याः सदा खेचरिदृष्टिरोघा-
त्सार्वात्मिकी भाति निरन्तरोक्ता ।
तामस्मि केयूरवतीं प्रसिद्धां
नमामि देवीमनिकेतसंस्थाम् ॥’

‘वन्दे ध्वस्तसमस्तभावविभवं श्रीमन्नवेराभिधं
तं यो यत्किरणौघपातविलसत्स्पर्शोदयो जृम्भते ।’

इति, श्रीह्रस्वनाथस्यापि

‘श्रीवीरनाथपादैः
पञ्च च देवीनये कृताः शिष्याः ।’

इति न पञ्चैव शिष्याः—श्रीभोजराजनाम्नः षष्ठस्यापि संभवात्, तदुक्तं स्वपारम्पर्यं व्याचक्षाणेन श्रीसोमराजेन

‘श्रीमद्रामनभानुः
क्रमकमलविकासने चतुरः ।
जयति षडध्वप्रोज्झित-
परनभसि निबद्धसंतानः ॥’

'येन ध्वस्तः समस्तो गहनतरमहामोहघोरान्धकारो
दत्तः सम्यक्प्रकाशः क्रमकमलवनोल्लासविश्रान्तिरूपः ।
प्राप्ता येनैव संविन्निरुपमसरसास्वादसंयोगभोगा
वन्दे श्रीभोजराजं गुरुवरमहितं पूज्यमर्हद्भिरन्तः ॥'

इति । एवमत्र अनेकप्रकारमासमञ्जस्यं संभवदपि अनङ्गत्वान्न प्रदर्शितम् । ननु एवं गुरुक्रमेऽप्यस्य कथंकारमिदं संगच्छतां, यदत्र—द्वादशैव एता देव्य इति, यतः श्रीमदवतारकनाथस्यापि अत्र त्रयोदशैव विवक्षिताः यः श्रीगोविन्दराजादीनामपि परमगुरुत्वेन स्थितः, यदाह

'एकं स्वरूपरूपं
प्रसरस्थितिविलयभेदतस्त्रिविधम् ।
प्रत्येकमुदयसंस्थिति-
लयविश्रमतश्चतुर्विधं तदपि ॥
इति वसुपञ्चकसंख्यं
विधाय सहजस्वरूपमात्मीयम् ।
विश्वविवर्तावर्त-
प्रवर्तकं जयति ते रूपम् ॥'

इति? सत्यमेतत् — को नामात्र विप्रतिपद्यते, किं तु 'अस्य द्वादशापि अभिप्रेता' इत्यभिदध्मः, यदधिकारेण श्रीगोविन्दराजादीनामुपदेशः प्रवृत्तो योऽस्मत्पर्यन्तमपि प्राप्तः, यदाह

'कालस्य कालि देहं
विभज्य मुनिपञ्चसंख्यया भिन्नम् ।
स्वस्मिन्विराजमानं
तद्रूपं कुर्वती जयसि ॥'

इति, अयमत्रार्थः — त्वमेवमुक्तस्वरूपे भगवति कालि! परप्रकाशैकस्वभावस्वात्माविभेदिनो

'भैरवरूपी कालः
सृजति जगत्कारणादि कीटान्तम् ।'

इत्याद्युक्त्या विश्वकलनाहेतोः कालस्य रूपम्, एवं — उक्तयुक्त्या, मुनिपञ्चसंख्यया द्वादशधा विभज्य — बहिरेवं समुल्लास्य, पुनरपि अतिरिक्तमेव तद्रूपं स्वस्मिन् प्रकाशैकघने रूपे, विराजमानं कुर्वती — दर्पणप्रतिबिम्बवदनतिरिक्ततयैव अवभासयन्ती, जयसि — अतिदुर्घटकारिणैकेनैव

अनाख्येन रूपेण सर्वकालं परिस्फुरसीति । नन्वेवमेतत्

'एकं स्वरूपरूपम् ........................ ।'

इत्यादिना विरुध्येत्—यत्कथमेकत्रैव परस्याः संविदो द्वादशधोदयमभिधाय त्रयोदशधापि अभिदध्यादिति, तदत्र कर्तृतयावस्थिताया भगवत्या एव त्रयोदशरूपत्वमभिधातव्यं येनानयोरेकवाक्यत्वं स्यात्? नैतत्—यदेवमभिधित्सितमपि उत्तरवाक्ये चतुर्दशं रूपमापतेत्, यदत्राप्यस्त्येव भगवत्याः कर्तृतयावस्थानमिति, वस्तुतस्त्वेतत् उभयत्रापि विकल्पस्यैव दौरात्म्यं यत् 'राहोः शिरः' इति वदभिन्नमपि वस्तु भेदेनामृशतीति, तस्मात् द्वादशधात्वमेवात्र वक्तुमभिप्रेतं सिद्धपादानाम्—इत्यवगन्तव्यम्, विरोधस्तु उत्थानोपहत एव, यदत्र—'तेन तेन क्रमेण त्वमेव परिस्फुरसि' इत्येवं व्याप्तिपरमेतदभिधानमिति, तथा च

'सदसद्विभेदसूते-
र्दलनपरा कापि सहजसंवित्तिः ।
उदिता त्वमेव भगवति
जयसि जयाद्येन रूपेण ॥'

इत्यादिना श्रीहस्तनयाभ्युदितेन जयाद्येनापि रूपेण त्वमेव परिस्फुरिता—इत्युक्तम्, अत्र पुनराद्यवर्णकलाचतुष्टयात्मना जयाद्येन रूपेणोदिता त्वं जयसि, इति—स्वक्रमोचितं व्याख्यानं युक्तम्, यदागमः

'अथ ब्रह्म परं शुद्धमादिवर्णत्वमागतम् ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'अम्बिकाधस्ततस्तिस्रो युगपच्छक्तयः पुनः ।
ज्येष्ठा रौद्री तथा वामा सुप्तनागेन्द्रसंनिभा ॥
रौद्री शृङ्गाटकाकारा ऋजुरेखा तथा परा ।
इत्येताः कारणं ज्ञेयाः सर्वमाभ्यः प्रवर्तते ॥
परापरपदप्राप्तौ शान्त्याद्याः परिकीर्तिताः ।
शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्चापरा स्मृता ॥
व्योमपञ्चकमाविष्टाः परमात्मपदास्पदाः ।
ता एवापररूपेण जयाद्या गुह्यशक्तयः ॥'

इति, अयं च प्रथममेताभिरेव कामरूपे चरुकप्रधानेनानुगृहीतः इति गुरवः, जयनशीला त्वम्, आद्येन — पूर्वकोटिभाविना रूपेणोदिता जयसि इति तु पापात्पापीयः, एवं

'ऋतुमुनिसंख्यं रूपं
　विभज्य पञ्चप्रकारमेकैकम् ।
दिव्यौघमुद्गिरन्ती
　जयति जगत्तारिणी जननी ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम् । तदेवम् एवं-विधस्य गुरुक्रमस्य भावात् तात्त्विक एवायमस्योपदेशः इति स्थितम्, तत्रापि च मूलभूतं शास्त्रं स्वविमर्शात्मा युक्तिश्च, इत्युभयमपि समनन्तरमेव प्रदर्शितम्, इत्येवं-प्रत्ययात्म अत्र परं निर्बाधं प्रमाणमुज्जृम्भते, ननु एतदस्तु, किं तु श्रीक्रमस्तोत्रमेवंव्याख्यां न सहते, यत् — तत्र संविदस्त्रयोदशधैवोदयो विवक्षितः, यतस्तत्र एकैकां देवीं प्रति एकैकेन श्लोकेन प्रक्रान्तायां स्तुतौ श्रीयमकालीभट्टारिकायाः श्लोकयुगलेन

स्तुतौ क इवाशयः, तत् स्वकालीमित्यपास्य भवानीमित्यपपाठ एव, इत्यत्र विवरणकारान्तरसंमत एव पाठ इति? अत्रोच्यते—इह तावदेकैकां देवीं प्रति एकैकेन श्लोकेन स्तुतिः प्रक्रान्ता—इति केनोक्तं, यत् श्रीरुद्रकालाग्निरुद्रकालीभट्टारिकाया अपि

'या सा जगद्ध्वंसयते समग्रं
मृत्योर्वपुर्ग्रासयतीति विष्वक् ।
धामाग्निरूपीयसहस्रदीप्तां
तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥'

इति द्वितीयेन श्लोकेन स्तुतिः समस्ति, इति श्रीयमकालीभट्टारिकायाः श्लोकयुगलेन स्तुतौ क इवायं संरम्भ इति, अथायमपि भवत्कल्पित एव श्लोकः, इति चेत् नैतत्—श्रीह्रस्वनाथेनापि स्वलिपिविवरणेऽस्य श्लोकस्य दृष्टत्वात्, सर्वेषामेव च विवरणकृतामत्र प्रतिपदं पाठानां श्लोकानां व्यत्यासो दृश्यते, इत्यस्मद्दृष्ट एव पाठे क इवायं प्रद्वेषः, नन्वेवं तर्हि 'अयं पाठः

साधुरयमसाधुः' इति विचारः किं नाश्रीयते—यद्य एव समूलः पाठः स एव साधुरितरस्तु इतरथेति, मूलं चात्रोभयत्रापि प्रदर्शितेन क्रमेण समानमुत्पश्यामः—इत्येकतरपरिग्रहे यथास्वं गुरूपदेश एव निबन्धनम्, यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः

'यो यस्य गुर्वादेशः स तस्य मोचकः ।'

इति, तस्माददृष्टगुरुभिरपरिशीलितशास्त्रसंप्रदायैः स्वविमर्शशून्यैर्देवानांप्रियैर्यत् किंचिदत्रोच्यते तदुपेक्ष्यमेव, इत्यलमतिरहस्यप्रकटनमहासाहसेन ॥

किंचात्र कलनमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं
गतिर्नाद इति क्रमात् ॥१७३॥
स्वात्मनो भेदनं क्षेपो
भेदितस्याविकल्पनम् ।

ज्ञानं विकल्पः संख्यान-
मन्यतो व्यतिभेदनात् ॥१७४॥
गतिः स्वरूपारोहित्वं
प्रतिबिम्बवदेव यत् ।
नादः स्वात्मपरामर्श-
शेषता तद्विलोपनात् ॥ १७५ ॥

'कल किल बिल क्षेपे' 'कल गतौ' 'कल संख्याने' 'कल शब्दे' इति धातुचतुष्टयस्य पञ्चधायमर्थो—यद्गतिर्ज्ञाने प्राप्तौ च वर्तते इति, एतदेव क्रमेण व्याचष्टे—क्रमादित्यादिना, भेदनमिति—बहिरुल्लासनम्, अविकल्पनमिति—स्वात्माभेदेन परामर्शः, भेदितस्यैव प्रमातृप्रमेयादेरर्थस्य परस्परापोहनात् 'इदमिदं नानिदम्, इति प्रतिनियततयावस्थापनात् संख्यानं विकल्पः, गतिश्चात्र गत्युपसर्जना प्राप्तिस्तेन भेदितोऽर्थः—संविल्लक्षणं स्वरूप-

मारोहति प्राप्नोतीति स्वरूपारोही, तस्य भाव-स्तत्त्वम्, न चैतत् कट इव देवदत्तस्येत्युक्तं—प्रतिबिम्बवत् इति, प्रतिबिम्बस्य हि तदव्य-तिरिक्तत्वेऽपि तद्व्यतिरिक्ततयैवावभासो भवे-दिति भावः, स्वात्मपरामर्शशेषतेति नदनमा-त्ररूपत्वात्, तद्विलोपनादिति—तेषामविकल्प-ज्ञानादीनां विलोपनात्, अपहस्तनादित्यर्थः, एतद्धि भिन्नस्यैव भवेदिति भावः॥१७४॥१७५॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

इति पञ्चविधामेनां
कलनां कुर्वती परा।
देवी काली तथा काल-
कर्षिणी चेति कथ्यते ॥१७६॥

परादेव्या एवैतदर्थानुगमादेवंव्यपदेशः, इ-त्याशयः ॥ १७६ ॥

न केवलमस्या एते एव व्यपदेशा यावद-न्येऽपि, इत्याह

मातृसद्भावसंज्ञास्या-
स्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु ।
एतावदन्तसंवित्तौ
प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत् ॥१७७॥
वामेश्वरीति-शब्देन
प्रोक्ता श्रीनिशिसंचरे ।

तेनास्याः—काल्यादिशब्दव्यपदेश्यायाः प-राभट्टारिकायाः 'मातृसद्भाव' इति संज्ञोक्ता, यत् एतावदन्तं—द्वादशदेवीपर्यन्तं यथायथ-मुद्रेकमासादयन्त्यां संवित्तौ, सकलादिषु प्रमा-तृषु प्रमितिक्रियाकर्तृत्वलक्षणं प्रमातृत्वं स्फु-टीभवेत् — स्वतन्त्रस्वप्रकाशपरसंविदेकरूपता स्यात्, तन्मातृणां सद्भाव इति, यदुक्तं

'सद्भावः परमो ह्येष मातृणां परिपठ्यते ।'

इति, श्रीनिशिसंचरे इति—श्रीनिशाटने, यदुक्तं तत्र

'एषा तु कौलिकी विद्या सर्वसिद्धिप्रदायिका ।
सकाशाद्देवदेवस्य निर्याता शक्तिवर्त्मनि ॥
वामेश्वर्यवतारे तु प्रकाशत्वमुपागता ।'

इति ॥ १७७ ॥

ननु सृष्ट्यादिरूपोपग्रहेणावभासभेदात् क्रमिकतया वैचित्र्यातिशयादस्याः कथमेकत्वं तात्त्विकं भवेत्, येन 'श्रीकालसंकर्षिणीति, श्रीमातृसद्भाव, इत्याद्येकतर एव परामर्शः स्यादिति कथमेतदुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

इत्थं द्वादशधा संवि-
त्तिष्ठन्ती विश्वमातृषु ॥१७८॥
एकैवेति न कोऽप्यस्याः
क्रमस्य नियमः क्वचित् ।
क्रमाभावान्न युगप-
त्तदभावात्क्रमोऽपि न ॥१७९॥

क्रमाक्रमकथातीतं
संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम् ।

इत्थम्—उक्तेन प्रकारेण, परैव संविद्देवी, विश्वमातृष्विति बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते, इति प्रमाणादेरपि आक्षेपात् प्रमातृप्रमाणादिविषयतया द्वादशधात्वेन अवभासमानापि, एकैव—अद्वितीयेत्यर्थः—विश्वात्मत्वेन परिस्फुरन्त्या अप्यस्या न स्वस्वरूपात्प्रच्याव इत्याशयः, अत एवास्या न नियतः कश्चित् क्रमः, येन—द्वादशधात्वेनैव परिस्फुरेदिति स्यात्, परस्याः संविदो हि सृष्ट्याद्युपाधिसंभेदेन परिस्फुरणेऽपि

'सकृद्विभातोऽयमात्मा............... ।'

इत्यादिनीत्या स्वस्वरूपावभासाविच्छेदात् विद्युदादिवदन्तरान्तरा प्रकाशनायोगात् स्वात्मनि कालावच्छेद एव नास्ति इति—को नाम तदात्मभूतस्य क्रमस्याप्यवकाशः, अत एव च नास्या यौगपद्यं, तद्धि स्पर्धाबन्धेन परिस्फुरतो-

रयःशलाकाकल्पयोर्द्वयोः संभवति, न चैतदपेक्षया अन्यः कश्चित् स्पर्धावानस्ति, इति कस्य नाम युगपद्भावः, अत एवास्याः क्रमाक्रमाभ्यामपि न योगः, तदाह—क्रमाभावादित्यादि, ननु इहावश्यं क्रमाक्रमाभ्यां पदार्थानां योगः संभवेदिति कथमुक्तं 'संवित्तत्त्वं तदतीतम्'? इत्याह—सुनिर्मलमिति, अनिर्मल एव हि शून्यादिर्मायाप्रमाता जन्मादिक्रियावभासभेदादवस्थाभेदावभासक्रमेण कालावच्छेदवान् स्वात्मानं पूर्वावस्थाविनाशावभासापेक्षया अतीतोचितेनावभासेन पश्यन् तदतीतत्वानुरोधेन वर्तमानतयावभासयति, वर्तमानावभासापेक्षया च परिणामावभासादिरूपं भविष्यदवस्थान्तरं व्यवस्थापयति, स्वसत्ताकालभाविनं च नीलाद्यर्थविशेषं स्वापेक्षया युगपद्भावेनाभिमन्यते, इति तस्यैव क्रमयौगपद्यावभासः, यदुक्तम्

'सर्वत्राभासभेदो हि भवेत्कालक्रमाकरः ।
विच्छिन्नभासः शून्यादेर्मातुर्भातस्य नो सकृत् ॥'

इति ॥ १७८ ॥ १७९ ॥

ननु यद्येवं तदस्याः परस्याः संविदः कथं नामावाहनविसर्जनाद्यात्मकत्वात् क्रमानुप्राणिता पूजा भवेत्? इत्याशङ्क्याह

तदस्याः संविदो देव्या
यत्र क्वापि प्रवर्तनम् ॥१८०॥
तत्र तादात्म्ययोगेन
पूजा पूर्णैव वर्तते ।

यत्र क्वचन संविदवष्टम्भेनावस्थानं नाम मुख्या पूजा, न पुनरावाहनादिरूपेति तात्पर्यार्थः, यथोक्तम्

'यस्मिन्यस्मिंश्चक्रवरे तत्स्पर्शाह्लादनिर्वृतिः ।
तदवष्टम्भयोगो यः स हि पूजाविधिः स्मृतः ॥'

इति ॥ १८० ॥

ननु 'अमन्त्रका तावत्पूजा न स्यात्' इति सर्वत्रैवोक्तं, मन्त्राश्च यदि संविदोऽतिरिक्ताः तत् 'संविदैकात्म्येनावस्थानं पूजा' इत्युक्तं हीयेत, अनतिरेके च तेषां पृथगुपदेश एव न कार्यः? इत्याशङ्कागर्भीकारेण प्राप्तावसरं संविच्चक्रोदयानुस्यूतत्वेन अनुजोद्देशोद्दिष्टं मन्त्रवीर्यं प्रकाशयितुमाह

परामर्शस्वभावत्वा-
देतस्या यः स्वयं ध्वनिः॥१८१
सदोदितः स एवोक्तः
परमं हृदयं महत्।

यः खलु परावाग्रूपः स्वरसोदितो ध्वनिः—अहंपरामर्शात्मा नादः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः॥'

इत्याद्युक्त्या, स्वयम्—अनन्यापेक्षत्वेन, अत एव सदा—नित्याविरतेन रूपेण, उदितः—उच्चर-

न्नास्ते, स एवैतस्याः परस्याः संविदः, परमं—सारभूतं, महत्—सर्वत्र सर्वदा चाऽव्यभिचरितस्वरूपत्वाद्व्यापकं, हृदयं—तथ्यं रूपं, सर्वशास्त्रेषूक्तं, यस्मादैश्वर्यात्मा अहंपरामर्श एवास्याः स्वभावो, यन्माहात्म्याद्विश्वात्मना इयं परिस्फुरेत्, यदाहुः

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'

इति ॥ १८१ ॥

न केवलमयमहंपरामर्शः शास्त्रे हृदयतयैव उक्तो, यावत् स्पन्दादिरूपतयापि, इत्याह

**हृदये स्वविमर्शोऽसौ**
**द्राविताशेषविश्वकः ॥१८२॥**
**भावग्रहादिपर्यन्त-**
**भावी सामान्यसंज्ञकः ।**

स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे
स्वात्मन्युच्छलनात्मकः॥ १८३॥

हृदये

'हृदयं बोधपर्यायः ........................... ।'

इत्युक्त्या बोधे – स्वात्मभूते योऽसौ विमर्शः, स द्रावितं – बहीरूपतया प्रसारितम्, अथ च गालितम् – अन्तःशान्तीकृतमशेषं विश्वं येनासौ, अत एव भावग्रहस्य – विश्वात्मतास्वीकारस्यादौ – निर्मित्सावसरे, पर्यन्ते – संजिहीर्षासमये च भवनशीलः, अत एव स्वात्मविकाससंकोचमयतयोच्छलत्तारूपः, अत एव विशेषरूपताया अनुल्लासात् प्रशमाच्च सामान्यशब्दवाच्यः स्पन्दशास्त्रादौ 'स्पन्दः' कथ्यते – किंचिच्चलनात्मकोच्छलत्तारूपानुगमात् स्पन्दशब्दाभिधेयतयोच्यते इत्यर्थः ॥१८२॥१८३॥

ननु यद्येवं तद्बोधस्य किंचिच्चलनेन स्वस्वरूपप्रच्यावान्नित्यताहानिः स्यात्? इत्याशङ्क्याह

किंचिच्चलनमेताव-
दनन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धे-
र्न संविदनया विना ॥१८४॥

किंचिच्चलनं हि नामैतदुच्यते—यद्बोधस्यानन्यापेक्षं स्फुरणं प्रकाशनं, परतोऽस्य न प्रकाशः अपि तु स्वप्रकाश एवेत्यर्थः, इदमेव हि नामास्य जडेभ्यो वैलक्षण्यं—यत् स्वयमेव तथा तथा प्रकाशते इति, एवमयमहंपरामर्शः स्पन्दशास्त्रादौ यथा स्पन्दत्वेनोक्तः तथैव श्रीमदूर्मिकीलावूर्मित्वेनापि इत्युक्तम् 'ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेः' इति। ननु सर्वेषु शास्त्रेषु अत्रैव कस्माद्भरः? इत्याशङ्क्याह 'न संविदनया विना' इति, इदमेव हि संविदः संवित्त्वं, यत्—सर्वमामृशतीति, अन्यथा हि अस्यास्तत्तदर्थोपरागेऽपि स्फटिकादिभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात्, यदुक्तम्

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥'

इति । एवं संविदः शुद्धत्वेऽपि तत्तदर्थोपरक्ततया परिस्फुरणं नाम मुख्यं रूपमित्युक्तं स्यात् ॥ १८४ ॥

ननु कथमेतद्युज्यते? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तयति

निस्तरङ्गतरङ्गादि-
　वृत्तिरेव हि सिन्धुता ।

एतदेवोपसंहरति

सारमेतत्समस्तस्य
　यच्चित्सारं जडं जगत् ॥१८५॥
तदधीनप्रतिष्ठत्वा-
　त्तत्सारं हृदयं महत् ।

एतद्विमर्शलक्षणं वस्तु, समस्तस्य — चेतना-

चेतनात्मनो विश्वस्य, सारं — जीवस्थानीयं, यतः

'संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः ।'

इत्यादिनीत्या रूपाद्यात्मनो जडस्य जगतस्तावत् संवेद्यत्वान्यथानुपपत्त्या संविदेव प्रतिष्ठास्थानमित्यविवादः, तस्याश्च चितः समनन्तरोक्तस्वरूपं हृदयमेव स्वात्मचमत्कृतिनिबन्धनत्वात् महत्सारं, यतः — तदधीनमेव अस्याः स्वात्मनि प्रतिष्ठानम्, अन्यथा हि जाड्यमेवापतेत्, इत्युक्तं बहुशः ॥ १८५ ॥

एतदेव प्रमेयान्तरगर्भीकारेणापि उपपादयति

तथा हि सदिदं ब्रह्म-
मूलं मायाण्डसंज्ञितम् ॥ १८६ ॥
इच्छाज्ञानक्रियारोहं
विना नैव सदुच्यते ।

तच्छक्तित्रितयारोहा-
द्भैरवीये चिदात्मनि ॥१८७॥
विसृज्यते हि तत्तस्मा-
द्बहिर्वाथ विसृज्यते ।

इदं हि ब्रह्ममूलं ब्रह्माण्डारम्भकम् अर्था-द्गर्भीकृतप्रकृत्यण्डेन मायाण्डेन प्राप्तसंज्ञं मायीयं विश्वं प्रतिभासमानत्वात् सत् विद्यमानमपि

'प्रतिभातोऽप्यर्थः परामर्शमन्तरेण
अप्रतिभात एव प्रमातर्यविश्रान्तेः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या जिज्ञासादिक्रमेण स्वातन्त्र्या-त्मनो विमर्शशक्तेः पल्लवप्रायास्विच्छाज्ञानक्रि-यासु यावन्नारूढं तावत् तथात्वदार्ढ्याभावान्नैव सदुच्यते, इदमेतदिति व्यवहरणीयतां नैती-त्यर्थः । यतस्तद्विश्वमिच्छादिशक्तित्रयात्मनि विमर्शे लब्धप्ररोहं सत् परप्रमात्रात्मनि भैरवीये रूपे विसृज्यते तत्र विश्रान्तिं यायात्, — इति संहारक्रमः । अथवा सृष्टिक्रमेण — तस्माद्भैरवी-

याद्रूपात् तद्विश्वं बहिर्विसृज्यते शक्तित्रयसोपानावरोहक्रमेण कलादिक्षितिपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेणावभास्यत इत्यर्थः। अनेन संवित्क्रमानतिवर्तितामभिद्योतयितुं श्रीपराबीजस्यापि उभयथा व्याप्तिगर्भीकारेणोदय उक्तः। तथाहि—'ब्रह्ममूलं सत्' इत्यनेन सकारस्योद्धारः, यदाशयेनागमे

'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि..................।' (परात्री० १० श्लो०)

इत्याद्युक्तम्। तस्यैव च 'मायाण्डसंज्ञितम्' इत्यनेन व्याप्तेः प्रदर्शनम्। स च स्वरं विनोच्चारयितुं न शक्यः, इति

'अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके।'

इत्याद्युक्तेः इच्छादिनौकारस्योद्धारः, तस्य चेच्छादीनां शक्तित्वात्तदण्डव्याप्तेरपि प्रदर्शनम्। 'विसृज्यते' इत्यनेन विसर्गस्योद्धारः, तस्यैव च 'भैरवीये चिदात्मनि' इत्यनेन व्याप्तिः। यदुक्तम्

---

पं० ४ क० ख० पु० अनतिरिक्तवृत्तितामिति पाठः।

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते ॥'

इति ॥ १८७ ॥

एतदेवोपसंहरति

एवं सद्रूपतैवैषां
सतां शक्तित्रयात्मताम् ॥ १८८ ॥
विसर्गं परबोधेन
समाक्षिप्यैव वर्तते ।

एवं यथोक्तयुक्त्या, एषां ब्रह्माण्डादीनां सतां विश्वरूपतया प्रतिभासमानानामेव, सद्रूपता परबोधेन सह शक्तित्रयात्मतां विसर्गं च समाक्षिप्यैव वर्तते, विसर्गोपारोहक्रमेण परप्रमात्रैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः । अनेन च सकारस्यैव औकारविसर्गक्रोडीकारेणाभिधानात् प्राधान्येनोक्तेः श्रीपराबीजस्य संहारक्रमेणोदयेऽपि सृष्टिप्राधान्यं दर्शितम् । यद्वक्ष्यति

'..................... प्राच्यं सृष्टौ च हृन्मतम् ।'

इति ॥ १८८ ॥

एवं संवित्क्रमेण श्रीपराबीजस्योदयमभिधाय एतत्समानस्कन्धताभिधित्सया श्रीपिण्डनाथस्यापि उदयमभिधत्ते

तत्सदेव बहीरूपं
प्राग्बोधाग्निविलापितम् ॥ १८९ ॥
अन्तर्नदत्परामर्शी-
शेषीभूतं ततोऽप्यलम् ।
स्वात्मत्वमेव संप्राप्तं
शक्तित्रितयगोचरात् ॥ १९० ॥
वेदनात्मकतामेत्य
संहारात्मनि लीयते ।

तत् विश्वं प्राग्बहीरूपतया प्रतिभासमानत्वेन सत् विद्यमानमेव, प्रतिभासमानत्वान्यथानुपपत्त्या बोधः प्रमाणात्मा संकुचितः प्र-

तिभासः, स एवाग्निः, तेन विलापितं बही-
रूपताया भस्मसात्कारेण स्वात्ममात्रपरमार्थ-
तामापादितं सत्, अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन
नदन् इदन्तापरामर्शतिरस्कारेणोल्लसन् यो-
ऽसावहंपरामर्शः, तच्छेषीभूतं स्वस्वरूपपरि-
हारेण तदेकात्मतामापन्नमपि, अनन्तरमलं
मानमेयाद्यात्मभेदसंस्कारस्यापि शून्यतापाद-
नेन अत्यर्थं, स्वात्मत्वमेव संप्राप्तं परप्रमात्रा-
त्मप्रकाशमात्ररूपतया प्रस्फुरितं सत्, क्रमा-
त्क्रमं क्रियादिशक्तित्रयसोपानारोहेण वेदना-
त्मकतां विदिक्रियाकर्तृत्वात्मकस्वातन्त्र्यशक्ति-
रूपतामासाद्य, संहारात्मनि

'सर्वसंहारसंहारसंहारमपि संहरेत् ।
सा शक्तिर्देवदेवस्याभिन्नरूपा शिवात्मिका ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपे श्रीकालसंकर्षिणीधाम्नि ली-
यते तदैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः। अत्र च संवि-
त्क्रमेणैव श्रीपिण्डनाथस्य व्याप्तिः, —इति त-
दनुसारेणैव तस्योद्धारः कृतः। तथा च—विश्वे-

न्धनदाहकत्वात् 'बोधाग्निना' इत्यनेन अग्नि-बीजस्य प्रमाणात्मनः संकुचितस्यापि बोधस्य मायाप्रमातरि लयः इति, 'नाद' त्यादिना संहा-रकुण्डलिन्यात्मकस्यैतद्रूपलिपेः कूटवर्णस्य पर-प्रमातरि च मायाप्रमातृत्वस्याप्यभावः इति, 'स्वात्मत्वम्' इत्यादिना व्योमात्मनः खवर्णस्य परस्यापि प्रमातुरिच्छाद्याः शक्तयः सतत्त्वम् इति, 'शक्तित्रितय' इत्यनेन तदात्मनो योनि-बीजस्येच्छादीनां च शक्तीनां स्वातन्त्र्यशक्तौ पिण्डीभावः इति, 'वेदनात्मकताम्' इत्यनेन बिन्दोश्चोद्धारः । एवं च रेफादिबिन्द्वन्तवर्ण-पञ्चकरूपतया श्रीपञ्चपिण्डनाथोऽयम्—इत्या-गमज्ञाः । अन्यत्र पुनरस्य

'शिवनभसि विगलिताक्षः
कौण्डिल्युन्मेषविकासितानन्दः ।
प्रज्वलितसकलरन्ध्रः
कामिन्या हृदयकुहरमधिरूढः ॥
योगी शून्य इवास्ते
तस्य स्वयमेव योगिनीहृदयम् ।

हृदयनभोमण्डलगं
समुच्चरत्यनलकोटिशतदीप्तम् ॥'

इत्यादिना भङ्ग्यन्तरेणोदय उक्तः ॥ १९० ॥

एतदेवोपसंहरति

इदं संहारहृदयं
प्राच्यं सृष्टौ च हृन्मतम् ॥ १९१ ॥

इदमित्यनेन श्रीपिण्डनाथपरामर्शः। अस्य च श्रीपराबीजवत् सृष्टिक्रमेण संभवत्यपि उदये रेफादीनां वर्णानां भेदसंहारकत्वात् तत्प्राधान्येन निर्देशः 'संहारहृदयम्' इति। अत एव श्रीस्तोत्रभट्टारकेऽपि

'कालानलाद्व्योमकलावसानं
चिन्त्यं जगद्ग्रासकलालयेन।
चक्रं महासंहृतिरूपमुग्रं
गतं चिदाकाशपदस्थमित्थम् ॥'

इत्यादिना संहारक्रमेणैव अस्योदय उक्तः। प्रा-

च्यमिति प्रागुपात्तं जीवपराबीजम् । अस्य च संहारक्रमेणोदयेऽपि

‘तत एव सकारेऽस्मिन् स्फुटं विश्वं प्रकाशते ।
अमृतं च परं धाम योगिनस्तत्प्रचक्षते ॥’

इत्यादिपूर्वोक्तयुक्त्या विश्वाप्यायकारितया सृष्ट्यात्मनोऽमृतबीजस्य प्राधान्यात् तथानिर्देशः ‘सृष्टौ हृत्’ इति ॥ १९१ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

एतद्रूपपरामर्श-
मकृत्रिममनाबिलम् ।
अहमित्याहुरेषैव
प्रकाशस्य प्रकाशता ॥१९२॥
एतद्वीर्यं हि सर्वेषां
मन्त्राणां हृदयात्मकम् ।
विनानेन जडास्ते स्यु-
र्जीवा इव विना हृदा ॥१९३॥

एतद्रूपः—श्रीपराबीजादिविषयतया सृष्ट्यादिक्रमेणोदयमानः समनन्तरोक्तस्वभावो यः परामर्शस्तं स्वरसोदितत्वादकृत्रिमम्, अत एवेदन्तापरामर्शप्रतिपक्षभावात्मककालुष्याकलङ्कितत्वात् अनाबिलम् 'अहमित्याहुः'—अहंपरामर्शात्मत्वेन कथयन्तीत्यर्थः, अहंपरामर्शोऽपि हि—अनुत्तराद्धान्तं सृष्टिक्रमेण ततोऽपि अनुत्तरान्तं संहारक्रमेणोदेतीति भावः, यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता विश्वस्वरूपिणी ।
प्रत्याहृताशेषविश्वानुत्तरे सा विलीयते ॥'

इति, एवं चास्य 'श्रीपराबीजपिण्डनाथाभ्यां समानकक्ष्यत्वम्' इत्युक्तं स्यात्, परस्याः हि संविदोऽनन्तविश्ववैचित्र्यलयोदयरूपतया परिस्फुरणं नाम परमार्थः, स चैषामविशिष्टः, इति किं नाम भिन्नकक्ष्यत्वे निमित्तं स्यात्, ननु परा संवित् तत्तद्रूपतया किमिति परिस्फुरति? इत्याशङ्क्योक्तम् 'एषैव प्रकाशस्य प्रकाशता' इति,

अन्यथा हि अस्य परस्य प्रकाशस्य जडाद्घटादेर्वैलक्षण्यं न स्यात्, यदुक्तं प्राक्

'अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद्घटादिवत्॥'

इति। ननु मन्त्राणां वीर्यमभिधातुमुपक्रान्तं तत् किमिति अकाण्ड एव परस्याः संविदः स्वरूपमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह 'एतदित्यादि' एतदिति—अहंपरामर्शानुस्यूतं संवित्तत्त्वं, सर्वेषामिति—न केवलं श्रीपराबीजपिण्डनाथयोरेवेति भावः, अनेनेति—अहंपरामर्शात्मना वीर्येण, जडा इति—स्फुरत्ताशून्यत्वादप्रयोजका इत्यर्थः, यदुक्तम्

'आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्।'

इति॥ १९२॥ १९३॥

न केवलमनेन वीर्येण मन्त्रा एव वीर्यवन्तो, यावत्तदितरदपीत्याह

अकृत्रिमैतद्धृदया-
रूढो यत्किंचिदाचरेत् ।
प्राण्याद्वा मृशते वापि
स सर्वोऽस्य जपो मतः ॥१९४

अकृतकाहंपरामर्शविश्रान्तो हि योगी तदनुवेधेन यत्किंचिद्वाह्यव्यवहारयोग्यं व्याहरेत् सोऽस्य सर्वो जपः — सर्वमेवास्य स्वात्मदेवताविमर्शानवरतावर्तनात्मत्वेन मन्त्ररूपतया परिस्फुरेदित्यर्थः, यदुक्तम्

'श्लोकगाथादि यत्किंचिदादिमान्त्ययुतं यतः ।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ॥'

इति, अत एव 'कथा जप': ( शिवसू० ३-२७) इत्याद्यन्यत्रोक्तम्, यदभिप्रायेणैव इतो बाह्यैरपि

'यो जल्पः स जपः ........................ ।'

इत्याद्युक्तम्, अनेन च मन्त्रवीर्यानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं वास्तवं जपाद्युपक्रान्तम् ॥१९४॥

तत्र जपस्य वास्तवं स्वरूपं तावदुक्तम्, इदानीमादिशब्देन स्वीकृतं वास्तवध्यानाद्यभिधातुमाह

यदेव स्वेच्छया सृष्टि-
स्वाभाव्याद्बहिरन्तरा ।
निर्मीयते तदेवास्य
ध्यानं स्यात्पारमार्थिकम् ॥ १९५

एवं-विधः खलु योगी सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारित्वलक्षणात् स्वभावाद्धेतोः, यदेव स्वेच्छया बहिरन्तर्वा नीलसुखादि अवभासयति, तदेव नामास्य संविन्मात्ररूपत्वात् पारमार्थिकं ध्यानं, न तु नियतं दशभुजादि अन्यत्किंचिदित्यर्थः ॥ १९५ ॥

ननु यद्येवं तद्दशभुजादि नियताकारं ध्यानादि किमिति उक्तम्? इत्याशङ्क्याह

निराकारे हि चिद्धाम्नि
विश्वाकृतिमये सति ।

फलार्थिनां काचिदेव
　　ध्येयत्वेनाकृतिः स्थिता ॥१९६

निराकार इति—नियताकाररहिते, इत्यर्थः ॥ १९६ ॥

ननु विश्वाकृति चेच्चिद्धाम, तत् कथम् अस्याकारान्तराभासपरिहारेण नियताकारतयाभासः स्यात्? इत्याशङ्क्याह

यथा ह्यभेदात्पूर्णेऽपि
　　भावे जलमुपाहरन् ।
अन्याकृत्यपहानेन
　　घटमर्थयते रसात् ॥१९७॥
तथैव परमेशान-
　　नियतिप्रविजृम्भणात् ।
काचिदेवाकृतिः कांचित्
　　सूते फलविकल्पनाम् ॥१९८॥

यथाहि — अभेदात् — परस्पराविभागेनावभासात्, मृत्त्वकाञ्चनत्वघटत्वादिभिराभासैः, पूर्णे, अनेकाभाससंभिन्ने घटादौ भावे, जलमुपाहरन् — उदकाहरणात्मनियतार्थक्रियार्थी प्रमाता, काञ्चनत्वाद्याकारान्तराभासमपहाय अर्थितातारतम्यात्मकाद्रसात्, तत्तदर्थक्रियाक्षमं घटमर्थयते — तत्त्वेनास्य अवभासो जायते इत्यर्थः, तथैव विश्वाकृतित्वेऽपि चिद्धाम्नः पारमेश्वरनियतिशक्तिमाहात्म्यादाकृत्यन्तरपरिहारेण काचिदेवाकृतिः — अर्थात् कस्यचित् एव कांचिदेव फलविकल्पनां सूते, इति युक्तमुक्तं 'फलार्थिनां काचिदेवाकृतिः ध्येयत्वेन स्थिता' इति ॥ १९७ ॥ १९८ ॥

यस्तु न नियतार्थक्रियार्थी तस्यानवच्छिन्नमेव रूपमवभासते, इत्याह

यस्तु संपूर्णहृदयो
न फलं नाम वाञ्छति ।

तस्य विश्वाकृतिर्देवी
सा चावच्छेदवर्जनात् ॥१९९॥

तेन बुभुक्षोर्नियताकारं ध्यानं, मुमुक्षोस्तु अनियताकारमिति विषयविभागः, यद्वक्ष्यति

'साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः ।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः ॥'

इति ॥ १९९ ॥

एवं ध्यानस्य वास्तवं स्वरूपमभिधाय, मुद्राया अप्यभिधत्ते

कुले योगिन उद्रिक्त-
भैरवीयपरासवात् ।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे
मुद्रा या काचिदेव सा ॥२००॥

कुले—शरीरे सत्यपि, प्राप्तपरमेश्वरैकात्म्यस्य योगिनः, अत एव तत्रैव दार्ढ्याद्विस्मृतदेहभावस्य, या काचन—उत्थितत्वादिरूपा, देहे

स्थितिः, सैव चिच्छक्तिप्रतिकृतिरूपा वास्तवी मुद्रा, न तु नियतकरादिनिर्वर्त्यसंनिवेशादि-रूपा इत्यर्थः, यदुक्तम्

'नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा ........................ ।'

इति, यदभिप्रायेणैवेतो बाह्यैरपि

'........................ मुद्रा या काचिदास्थितिः ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ २०० ॥

इदानीं होममपि वास्तवेन रूपेणाभिधातु-माह

अन्तरिन्धनसंभार-
मनपेक्ष्यैव नित्यशः ।
जाज्वलीत्यखिलाक्षौघ-
प्रसृतोग्रशिखः शिखी ॥ २०१ ॥
बोधाग्नौ तादृशे भावा
विशन्तस्तस्य सन्महः ।

उद्रेचयन्तो गच्छन्ति
होमकर्मनिमित्तताम् ॥२०२॥

यदुक्तम्

'सप्तेन्द्रियशिखाजालजटिले जातवेदसि ।
बोधाख्ये भाववर्गस्य भस्मीभावोऽग्नितर्पणम् ॥'

इति । यदभिप्रायेणैव अस्मद्गुरुभिरपि

'शश्वद्विश्वमनश्वरप्रकृतयो विश्वस्तचित्ता भृशं
ये विज्ञानतनूनपाति विततोन्मेषा वषट्कुर्वते ।
तेषां संततसर्वमेययजनक्रीडामहायज्वनां
नो मन्येऽवभृथक्षणः क्षणमपि क्षीणस्थितिर्लक्ष्यते ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ २०२ ॥

न केवलमेतत् परस्वरूपावेशकारित्वादात्मन्येवोपयोगि, यावत्परत्रापि, इत्याह

यं कंचित्परमेशान-
शक्तिपातपवित्रितम् ।
पुरोभाव्य स्वयं तिष्ठे-
दुक्तवद्दीक्षितस्तु सः ॥ २०३ ॥

यं कंचित्

'न मे प्रियश्चतुर्वेदो मद्भक्तः श्वपचोऽपि वा ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥'

इत्याद्युक्तेरनियतं पारमेश्वरेणैव शक्तिपातेन पवित्रीकृतम्, अनुग्राह्यतया अग्रे भावयित्वा, उक्तवत्-यथोक्तवास्तवजप्यादिनिष्ठतया, स्वयं — स्वस्वरूप एव तिष्ठेत्, येनासौ दीक्ष्यः —

'........................ भुजङ्गवद्गरलसंक्रामः ।'

इत्याद्युक्त्या तत्स्वरूपसंक्रमात्

'........................ दीपाद्दीपमिवोदितम् ।'

इतिन्यायेन दीक्षितः, — पशुवासनाक्षैण्येन लब्धपरतत्त्वाधिगमो भवेदित्यर्थः ॥ २०३ ॥

नन्वेकैकस्मादेव वास्तवाज्जप्यादेः स्वरूपविश्रान्तिः सिद्ध्येत्, इति किं जप्यादिभिर्बहुभिरेवमुपदिष्टैः ? इत्याशङ्क्याह

जप्यादौ होमपर्यन्ते
यद्यप्येकैककर्मणि ।

उदेति रूढिः परमा
तथापीत्थं निरूपितम् ॥२०४॥

इत्थमिति – जप्यादीनां बहुधात्वेन ॥२०४॥

ननु जप्यादीनां बहूनां कस्मान्निरूपणं कृतम्, इति प्रश्निते तदेवोत्तरीकृतम्, इति किमेतत्? इत्याशङ्क्याह

यथाहि तत्र तत्राश्वः
समनिम्नोन्नतादिषु ।
चित्रे देशे वाह्यमानो
यातीच्छामात्रकल्पिताम् २०५
तथा संविद्विचित्राभिः
शान्तघोरतरादिभिः ।
भङ्गीभिरभितो द्वैतं
त्याजिता भैरवायते ॥ २०६ ॥

यथाहि तत्र तत्र समनिम्नोन्नतादिषु भूभा-

पं० १० ख० पु० यथेच्छामात्रेति पाठः ।

गेषु वाहकेल्यात्मनि कर्कशपांसुलादौ चित्रे देशे कटकमण्डलादिना वाह्यमानोऽश्वो वाहकस्ये-च्छामात्रकल्पिताम् — इच्छामात्रविधेयतां याति, तथा संविदपि शान्तघोरतरात्मभिः — अघोर-घोर-घोरतरात्मकपरादिशक्तित्रयैकात्म्येन नि-रूप्यमाणाभिः अत एव विचित्राभिर्जप्यादि-भिर्भङ्गीभिरभितः समन्ततः, तत् — द्वैतं त्याजि-ता, भैरवायते — भेदापहस्तनपूर्वमनुत्तरपरसंवि-द्रूपतया परिस्फुरतीत्यर्थः ॥ २०५ ॥ २०६ ॥

एतदेव हृदयङ्गमीकर्तुं दृष्टान्तान्तरप्रदर्शने-नाप्युपपादयितुमाह

यथा पुरःस्थे मुकुरे
निजं वक्त्रं विभावयन् ।
भूयो भूयस्तदेकात्म
वक्त्रं वेत्ति निजात्मनः ॥ २०७ ॥
तथा विकल्पमुकुरे
ध्यानपूजार्चनात्मनि ।

आत्मानं भैरवं पश्य-
　　न्नचिरात्तन्मयीभवेत् ॥ २०८ ॥

यथाहि कश्चिन्निजं वक्त्रं पुरोवर्तिनि मुकुरे, भूयो भूयो विभावयन्—यत्नेन निरीक्षमाणो, निजात्मनः संबन्धि बिम्बभूतं तद्वक्त्रं तदेकात्म वेत्ति—मामकमेवेदं वक्त्रमिति निश्चयोत्पादात् प्रतिबिम्बाभेदेनैव मन्यते, तथैव पूजाद्यात्मन्यनेकस्मिन् विकल्पमुकुरे बहुशः स्वात्मानं भैरवतया पश्यन्, अचिरेणैव कालेन तन्मयीभवेत्—तदैकात्म्यं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ २०७ ॥ २०८ ॥

तन्मयीभावो नाम किंस्वरूपः? इत्याह

तन्मयीभवनं नाम
　　प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि ।

अनुत्तरात्मनि प्राप्त्यापि किं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

पूर्णत्वस्य परा काष्ठा
　　सेत्यत्र न फलान्तरम् ॥ २०९ ॥

सा — अनुत्तरात्मनि प्राप्तिः, सर्वतो नैराकाङ्क्ष्यात् 'पूर्णत्वस्य परा काष्ठा' इति, नात्र अन्यत् किंचित् फलं संभवेत्, नहि अत्र साकाङ्क्षत्वस्य नामाप्यवशिष्यते येन — फलान्तरमपि मृग्यं भवेदिति भावः, साकाङ्क्षो हि प्रमाता तत्फलमर्थयमानः प्रथमं तावत्साधनमन्विष्यति, यथोदकाहरणार्थी घटं तत्साधनं च प्राप्य तत्तत्फलमासादयेत्, इति नैराकाङ्क्ष्यस्योत्पादात् औदासीन्यमवलम्बमानः स्वात्मन्येव तिष्ठेत्, किं तु न तत् पूर्णं नैराकाङ्क्ष्यं — क्षणान्तरेणाकाङ्क्षान्तरस्यापि उल्लासात्, अत एव न तत् पारमार्थिकं — साकाङ्क्षत्वेऽपि तस्य तथाकल्पनात्, अतश्च तत्रोत्पन्नेऽपि फले फलान्तरं संभाव्यम् — आकाङ्क्षान्तरस्यापि भावात्, यत्पुनः पारमार्थिकं पूर्णत्वं, तत्र न फलान्तरं संभवेत् — सर्वत एव साकाङ्क्षत्वस्य संक्षयात्॥२०९॥

तदाह

फलं सर्वमपूर्णत्वे

तत्र तत्र प्रकल्पितम्।

अकल्पिते हि पूर्णत्वे
फलमन्यत्किमुच्यताम्॥ २१० ॥

पूर्णत्व इति – पूर्णत्वनिमित्तम्, तत्रेति – सर्वस्मिन् फले ॥ २११ ॥

एतदेव सप्रशंसमुपसंहरति

एष यागविधिः कोऽपि
कस्यापि हृदि वर्तते ।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं
द्रागपश्चिमजन्मनः ॥ २११ ॥

नन्वेवंविधस्य यागविधेरधिगममात्रादेव किं नामानन्यसामान्यत्वमस्य भवेत् यदेवमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

अत्र यागे गतो रूढिं
कैवल्यमधिगच्छति ।
लोकैरालोक्यमानो हि
देहबन्धविधौ स्थितः ॥ २१२ ॥

अत्र – एवं विधे यागे, लब्धप्ररोहः कश्चिद-पश्चिमजन्मा देहबन्धविधौ स्थितोऽपि – जीव-न्नपि, लोकैः – बद्धात्मभिरन्यैः

'ग्राह्यग्राहकभावो हि सामान्यः सर्वदेहिनाम् ।'

इत्याद्युक्त्या समानकक्ष्यतयैव व्यवहरन्नालो-क्यमानः, कैवल्यमधिगच्छति – ग्राह्यग्राहकभा-वाद्यात्मकभेदापहस्तनेन प्रत्यभिज्ञातशिवस्व-भावस्वात्ममात्ररूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, अयमेव हि समानेऽपि व्यवहारे बद्धमुक्तयोर्विशेषो – यन्मुक्तस्य स्वाङ्गरूपतया भावा अवभासन्ते, बद्धस्य तु स्वरूपतः परस्परतश्चात्यन्तं भेदेनेति, यदुक्तम्

'मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते ।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥'

इति ॥ २१२ ॥

अत एव जीवन्मुक्तविषयतया भगवानपि एवमभ्यधात्, इत्याह

अत्र नाथः समाचारं
　　पटलेऽष्टादशेऽभ्यधात् ।

अष्टादशे पटले—प्रकृतत्वात् श्रीमालिनीविजयसत्के ॥

अत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धि-
　　र्न भक्ष्यादिविचारणम् ॥ २१३ ॥

न द्वैतं नापि चाद्वैतं
　　लिङ्गपूजादिकं न च ।

न चापि तत्परित्यागो
　　निष्परिग्रहतापि वा ॥ २१४ ॥

सपरिग्रहता वापि
　　जटाभस्मादिसंग्रहः ।

तत्त्यागो न व्रतादीनां
　　चरणाचरणं च यत् ॥ २१५ ॥

क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च
समयादिप्रपालनम् ।
परस्वरूपलिङ्गादि
नामगोत्रादिकं च यत् ॥ २१६ ॥
नास्मिन्विधीयते किंचि-
न्न चापि प्रतिषिध्यते ।
विहितं सर्वमेवात्र
प्रतिषिद्धमथापि च ॥ ११७ ॥
किं त्वेतदत्र देवेशि
नियमेन विधीयते ।
तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं
सुप्रसन्नेन योगिना ॥ २१८ ॥
तच्च यस्य यथैव स्या-
त्स तथैव समाचरेत् ।
तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु
भुञ्जानो विषयानपि ॥ २१९ ॥

न संस्पृश्येत दोषैः स
पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
विषापहारिमन्त्रादि-
संनद्धो भक्षयन्नपि ॥ २२० ॥
विषं न मुह्यते तेन
तद्वद्योगी महामतिः ।

अनेन च वास्तवजप्यादिसामनन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टस्य विधिनिषेधतुल्यत्वस्याप्युपक्षेपः कृतः ॥ २१३–२२० ॥

एतच्च बहुक्षोदक्षमत्वेन वैषम्यात् स्वयमेव व्याचष्टे

अशुद्धं हि कथं नाम
देहाद्यं पाञ्चभौतिकम् ॥ २२१ ॥
प्रकाशतातिरिक्ते किं
शुद्ध्यशुद्धी हि वस्तुनः ।

यन्नाम हि पाञ्चभौतिकं देहाद्यं

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या निखिलमेव जगदुदरवर्ति पदार्थजातं, तत् कथमिवाशुद्धम् अर्थात् शुद्धं वा, यतः—किं शुद्ध्यशुद्धी प्रकाशतातिरिक्ते बहिः सत्यपि वस्तुनि नीलानीलादिन्यायेन प्रतिभासविकारकारित्वाभावात् वस्तुधर्मतया न भवत इत्यर्थः, अतश्च यस्य यो न धर्मः स तथा न भवेदिति 'इदं शुद्धमिदमशुद्धम्' इति विभागो दुष्येत्, ननु अनुभवापह्नवोऽयं—लोके निर्बाधस्य शुद्ध्यशुद्धिव्यवहारस्य दर्शनात्? नैतत्—नहि वयं शुद्ध्यशुद्धिव्यवहारमपह्नुमहे, किं तु 'ते वस्तुधर्मतया न भवतः' इत्युच्यते, प्रमाता हि व्यवस्यति—इदं शुद्धमिदमशुद्धमिति, वस्तुधर्मत्वे हि अनयोरशुद्धं न कदाचिदपि शुद्ध्येत् शुद्धमपि वा नाशुद्धं स्यात्, नहि नीलमनीलमपि कदाचिद्भवेत्—स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्, तथात्वे च

'तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च।
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः॥'

इत्यादिश्रुतीनां युक्तिबाधितत्वं स्यात् ॥२२१॥

एवं प्रमातृधर्मत्वेऽशुद्धं चेद्वस्त्वन्तरेण शोध्यते, तत् किं शुद्धेनाशुद्धेन वा? इत्याह

अशुद्धस्य च भावस्य
शुद्धिः स्यात्तादृशैव किम्॥२२२॥
अन्योन्याश्रयवैयर्थ्या-
नवस्था इत्थमत्र हि।

तत्राशुद्धस्य पृथिव्यादेर्भावस्य तादृशेनैवाशुद्धेन जलादिना भावान्तरेण शुद्धिः स्यात् – नैष पक्षो युज्यते इत्यर्थः, अत्र हि इत्थं – वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अन्योन्याश्रयतादिदूषणजालमापतेत् ॥ २२२ ॥

तदाह

पृथिवी जलतः शुध्ये-
ज्जलं धरणितस्तथा ॥ २२३॥

अन्योन्याश्रयता सेय-
मशुद्धत्वेऽप्ययं क्रमः ।
अशुद्धाज्जलतः शुद्धे-
र्धरेति व्यर्थता भवेत् ॥ २२४ ॥
वायुतो वारिणो वायो-
स्तेजसस्तस्य वान्यतः ।

अशुद्धादेव हि जलादेरशुद्धस्य पृथिव्यादेः शुद्धावुभयोरप्यविशेषात् परस्परमपि स्यात्—इतीदमन्योन्याश्रयत्वम्, एवमशुद्धस्यापि अशुद्धेनैवाशुद्धिश्चेत् क्रियते तदुभयोरप्यविशेषात् अन्योन्याश्रयत्वम् इत्युक्तम् 'अशुद्धत्वेऽप्ययं क्रम' इति, एवं वैयर्थ्याद्यपि योज्यम्, अथाशुद्धस्य पृथिव्यादेरशुद्धादेव जलादेः शुद्धिः तत्तस्याशुद्धत्वाविशेषात् स्वयमेवास्तु, किमन्येनापि अशुद्धेन जलादिना—इति वैयर्थ्यम्, अथ पृथिवी जलाच्छुद्ध्येत्, जलमपि वायोः, सोऽपि तेजसः, तदप्यन्यस्मादाकाशादेः,

तदप्यन्यतः—इत्यनवस्थानम्, एवमशुद्धस्य पृथिव्यादेर्भावस्य अशुद्धादन्यतो जलादेः शुद्धिर्वा न घटते, इत्युक्तं स्यात् ॥२२३॥२२४॥

एवं तर्हि अन्यस्माच्छुद्धादेव शुद्धिः स्यात्, इत्याह

बहुरूपादिका मन्त्राः
पावनात्तेषु शुद्धता ॥ २२५ ॥

पावनादिति—अर्थात् स्वभावतः ॥ २२५ ॥

नन्वाकाशादिभूतपञ्चकगुणभूतशब्दात्मका मन्त्रा यदि स्वभावत एव शुद्धाः, तत् किमिति स्वयमेव पृथिव्यादयोऽपि स्वभावत एव शुद्धा न स्युः? इत्याह

मन्त्राः स्वभावतः शुद्धा
यदि तेऽपि न किं तथा।

ननु मन्त्राणां पावनत्वे शिवात्मतालक्षणं निमित्तान्तरमस्ति? इत्याशङ्क्याह

शिवात्मता तेषु शुद्धि-
यदि तत्रापि सा न किम् ॥२२६॥

ननु यदि नाम मन्त्राणां शिवात्मता पावन-त्वे निमित्तं तत् तत्रापि भूतपञ्चके सा न किं भवेत्, शिवात्मता हि प्रकाशरूपत्वमुच्यते, तेन विना च न किंचिदपि स्फुरेत्, इति प्रकाशमानत्वान्यथानुपपत्त्या अस्त्येवैषां तदात्मत्वम् ॥ २२६ ॥

अथ समानेऽपि शिवात्मत्वे मन्त्राणां मनन-त्राणधर्मकतया तथात्वेन परिज्ञानमस्ति, न धरादीनाम्, इति तद्वैलक्षण्येन मन्त्राणामेव शुद्धत्वमिति मतम्, इत्याह

शिवात्मत्वापरिज्ञानं
न मन्त्रेषु धरादिवत् ।
ते तेन शुद्धा इति चे-
त्तज्ज्ञास्तर्हि शुद्धता ॥२२७॥

एवं तर्हि शिवात्मत्वेन ज्ञप्तिर्नाम शुद्धतोच्यते, इत्याह ‘ तज्ज्ञप्तिः ’ इति ॥ २२७ ॥

सा च धरादिष्वपि समाना, — इत्याह

योगिनं प्रति सा चास्ति
भावेष्विति विशुद्धता ।

पशुप्रायाणां हि मन्त्रेष्वपि शिवात्मत्वेन परिज्ञानं नास्ति, — इति तान् प्रति तेषां स्वकार्यकारित्वाभावात् संभावनीयमपि अशुद्धत्वम्। धरादीनां च योगिनं प्रति तत्परिज्ञानमस्ति, — इति तेषामपि विशुद्धत्वम्। एतदेव हि नाम योगिनो योगित्वं, यत् — निखिलमिदं विश्वं शिवात्मतया परिजानाति — इति । यथोक्तम्

‘ यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः ।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ॥ ’

इति। अतश्च यथोक्तयुक्तिबलाद्भावानां स्वात्मनि शुद्ध्यशुद्धिविभागो न सिद्ध्येत् — इत्युक्तं स्यात् ॥

ननु केनोक्तं — यद्भावानां युक्तिबलेन शुद्ध्यशुद्धिविभाग — इति, स हि शास्त्रेण व्यवस्थाप्यते, — इत्याह

ननु चोदनया शुद्ध्य-
　शुद्ध्यादिकविनिश्चयः ॥ २२८ ॥

चोदना विधायकं वाक्यम्, यदाहुः

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् ।'

इति । तया यच्छुद्धतया विहितं तच्छुद्धम्, अन्यथा त्वन्यत् । यत् स्मृतिः

'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधःस्थान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥'

इति । आदिग्रहणेन भक्ष्याभक्ष्यादि ॥ २२८ ॥

ननु यदि नाम शुद्ध्यशुद्धिविभागे चोदनैव निमित्तं, तदस्तु को दोषः, किंतु तदविभागेऽपि एषा शिवोदिता चोदनैव निमित्तं 'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः' इति, तदाह

इत्थमस्तु तथाप्येषा
　　चोदनैव शिवोदिता ।

नन्वेवमुभयोरपि चोदनात्वाविशेषे का नाम तावत् प्रमाणभूता भवेत्, यदाश्रयणेन शुद्ध्यशुद्ध्यादिविनिश्चयं विधास्यामः? इत्याशङ्क्याह

का स्यात्सतीति चेदेत-
　　दन्यत्र प्रवितानितम् ॥ २२९ ॥

अन्यत्रेति, इह पुनर्ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रवितानितमिति भावः। इह खलु समयोपस्कृतस्य शब्दस्यार्थावबोधमात्रे स्वातन्त्र्यम्, अर्थतथात्वेतरपरिनिश्चये पुरुषमुखप्रेक्षित्वात् पारतन्त्र्यमपरिहार्यम्; तेनाप्तोक्तत्वादेव असौ प्रमाणीभवति, अन्यथा पुनरप्रमाणमेव, —इति निश्चयः। ततश्च वैदिक्यामस्यां वा चोदनायां साक्षात्कृतनिखिलधर्मा सकलजगदुद्दिधीर्षापर एक एव परमेश्वरः प्रामाण्यनिबन्धनं, तदुपदिष्टत्वात्

सर्वशास्त्राणाम् । नच वैदिक्यां चोदनायामकर्तृत्वं वक्तुं शक्यं रचनावत्त्वात्, सर्वरचनानां कर्तृपूर्वकत्वात्; अतश्चोभयोरपि चोदनयोः सत्त्वमविशिष्टम्, —इति किमाश्रयणेन तावच्छुद्ध्यादिविवेकं कुर्मः, —इति न जानीमः । न च अनयोः परस्परं बाध्यबाधकभावो युक्तः तुल्यबलत्वात्, एकतरत्र च दौर्बल्यनिमित्तानुपलम्भात् । ननु अस्त्येव एकतरत्र दौर्बल्यनिमित्तं यद्वेदबाह्यत्वं नाम श्रुत्यन्तराणाम्, यदाहुः

'वेदवर्त्मानुवर्ती च प्रायेण सकलो जनः ।
वेदबाह्यस्तु यः कश्चिदागमो वञ्चनैव सा ॥'

इति । अतश्च वेदकर्तृक एवागमान्तराणां बाधः —इति तदाश्रयेणैव युक्तः शुद्ध्यादिविभागः ॥ २२९ ॥

ननु यद्येवं तदितो बाह्यत्वाद्वैदिकीनां चोदनानामनयापि बाधः किं न भवेत् समानन्यायत्वात्, नहि एकतरत्र बलवत् किंचित्कारणमुत्पश्यामो, येन अन्यत्र नियमेन बाधः स्यात्? तदाह

वैदिक्या बाधितेयं चे-
　　द्विपरीतं न किं भवेत् ।

ननु यद्येवं तत्परस्परव्याहतत्वादुभयमपीद-मप्रमाणम्,—इति न किंचित्सिद्ध्येत्,? नैतत्—ईश्वरप्रणीतत्वाख्यस्य बलवतः प्रामाण्यकारण-स्योभयत्रापि सद्भावात् । तर्हि सुतरामिदमप्रा-माण्यकारणं—यदेकस्मिन्नपि उपदेष्टरि परस्पर-व्याहतत्वं नामेति,? नैतत्—अधिकारिभेदेन तथोपदेशात् । भगवता हि शुद्ध्यादि सामान्येन सर्वपुरुषविषयतया चोदितं, विशिष्टविषयतया त्विदम्,—इति न कश्चिदनयोरप्रामाण्यपर्यव-सायी दोषः; तत् उभयोरपि चोदनयोर्भिन्न-विषयत्वेनावस्थितेः सत्त्वमविशिष्टमेव,—इति सिद्धम् ॥

ननु कथमनयोरविशिष्टं सत्त्वं शुद्ध्यादिविधेः सर्वपुरुषविषयतया प्रवृत्तावपि क्वचिद्विषये बा-धात्? इत्याशङ्क्याह

सम्यक्त्वेन्मन्यसे बाधो
विशिष्टविषयत्वतः ॥ २३० ॥
अपवादेन कर्तव्यः
सामान्यविहिते विधौ ।

यदि नाम बाधावृत्तं सम्यगवबुद्ध्यसे, तन्न कस्या अपि चोदनायाः सत्त्वहानिः । तथाहि — निरवकाशत्वाद्विशेषात्मा अपवादविधिः सर्वत्र लब्धावकाशं सामान्यात्मकमुत्सर्गविधिं बाधते, इति वाक्यविदः । सर्वविषयावष्टम्भेन लब्धप्रतिष्ठोऽपि हि उत्सर्गविधिरपवादविधेर्विशिष्टं विषयं परिकल्प्य विषयान्तरे निर्बाधमभिनिविष्टो भवेत् । यदाह चूर्णिकाकारः

'प्रकल्प्यापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते ।'

इति । अत एवास्य क्वचिद्बाध्यत्वेऽपि अप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं विषयान्तरे प्रमाणरूपत्वेन प्रतिष्ठानात् । स च द्विधा बाधः समानकार्यकारित्वाद्विरोधाद्वा । तत्र

'चमसेनापः प्रणयेत् ।'

इति चमसेनापां प्रणयनं सामान्येन विहितम्

'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् ।'

इति पशुकामात्मविशिष्टविषयत्वेन अपवादात्मा गोदोहनविधिः अप्प्रणयनलक्षणसमानकार्यकारित्वाद्बाधते ।

'अष्टाश्रिर्यूपो भवति ।'

इति सामान्येन सर्वक्रतुविषयतया विहितोऽपि अष्टाश्रिर्यूपः

'वाजपेयस्य चतुरश्रः ।'

इत्यनेन अपवादविधिना विरोधाद्बाध्यते ॥२३०॥

ननु एवमपि प्रकृते किम्? इत्याशङ्क्याह

शुद्ध्यशुद्धी च सामान्य-
विहिते तत्त्वबोधिनि ॥ २३१ ॥
पुंसि ते बाधिते एव
तथा चात्रेति वर्णितम् ।

वैदिक्या चोदनया सामान्येन सर्वपुरुषविषयतया विहिते अपि ते शुद्ध्यशुद्धी तत्त्वज्ञविषये अर्थाद्विरोधेन बाधिते एव, न न बाधिते भवत इत्यर्थः। अत्र हेतुः 'तथा चात्रेति वर्णितम्' इति,

'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः ........................ ।'

इत्यपवादात्म तत्त्वज्ञविषयं विधिवाक्यमुक्तमित्यर्थः ॥ २३१ ॥

ननु नात्र विधिवाक्यत्वं वक्तुं युक्तं निर्बाधस्य शुद्ध्यशुद्धिविभागस्य लोके दर्शनात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरुद्धत्वात्, तेनावश्यमनेन अर्थवादेन भाव्यं, तद्धि भूम्ना विध्येकवाक्यतयोच्यते; अतश्च तदर्थेनैव अस्यार्थवत्त्वं न स्वतः; अत एवास्य स्वरूपपरत्वाभावान्न प्रमाणान्तरविरोधः। अर्थवादवाक्याद्धि विधौ श्रद्धातिशयो जायते, येन तत्र सादरं प्रवर्तते लोकः। यदाहुः

'विधिशक्तिरवसीदति तां प्राशस्त्यज्ञानं समुत्तम्भाति।'

इति । तेन

> ‘ मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
> यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ॥ ’

इत्यादेः श्रूयमाणस्य सर्वनिर्विकल्पेन योगिना भाव्यम् ,—इत्यादेः परिकल्प्यमानस्य वा विधेः प्ररोचनाकारितया शेषभूतोऽयमर्थवाद एव? इत्याशङ्क्याह

> **नार्थवादादिशङ्का च**
> **वाक्ये माहेश्वरे भवेत् ॥ २३२ ॥**

यदुक्तम्

> ‘ विधिवाक्यमिदं तन्त्रं नार्थवादः कदाचन ।
> झगिति प्रत्यवायेषु सत्क्रियाणां फलेष्वपि ॥ ’

इति । तथा

> ‘ ..................... नार्थवादः शिवागमः । ’

इति । माहेश्वर इति विशेषणद्वारेण महेश्वरप्रणीतत्वं हेतुरुक्तः; यन्नाम हि बुद्धिमान् प्रयुङ्क्ते तन्न कदाचिद्व्यर्थं भवेदिति भावः ॥ २३२ ॥

यत् पुनर्बुद्धिमता न प्रयुक्तं तत्रैवं संभावना भवेत्,—इत्याह

अबुद्धिपूर्वं हि तथा
संस्थिते सततं भवेत् ।
व्योमादिरूपे निगमे
शङ्का मिथ्यार्थतां प्रति ॥२३३॥

इह खलु निगमे वेदशास्त्रे, सततं विधिवाक्यानामर्थवादवाक्यानां वा श्रुतिकाले, मिथ्यार्थतां प्रति असदर्थत्वविषये प्रेक्षापूर्वकारिणां शङ्का भवति,—इति संभाव्यं; यतः स परमते घनगर्जितवदबुद्धिपूर्वम् अबुद्धिमत्कर्तृकत्वेन तथा विध्यर्थवादादिरूपतया संस्थितः; अत एवानर्थक्येन शून्यप्रायत्वात् 'व्योमादिरूपे' इत्युक्तम् । यदभिप्रायेणैव

'आप्तं तमेव भगवन्तमनादिमीश-
माश्रित्य विश्वसिति वेदवचस्सु लोकः ।

तेषामकर्तृकतया तु न कश्चिदेव
विस्रम्भमेति मतिमानिति वर्णितं प्राक् ॥'

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ॥ २३३ ॥

यत्र पुनरनवच्छिन्नविज्ञानात्मा परमेश्वर एव शास्त्ररूपेणावस्थितः, तत्र का नाम मिथ्यार्थत्वं प्रति शङ्का भवेत्? इत्याह

अनवच्छिन्नविज्ञान-
वैश्वरूप्यसुनिर्भरः ।
शास्त्रात्मना स्थितो देवो
मिथ्यात्वं क्वापि नार्हति ॥२३४॥

'मिथ्यात्वं क्वापि नार्हति' इत्यत्र पूर्वार्धं हेतुः॥२३४

नन्वीश्वरः सर्वशास्त्राणां प्रणेता, —इत्यधिगतमस्माभिः, नतु स एव तदात्मनावस्थितः,—इत्यपूर्वमिदं किमुच्यते? इत्याशङ्क्याह

इच्छावान्भावरूपेण
यथा तिष्ठासुरीश्वरः ।

तत्स्वरूपाभिधानेन
तिष्ठासुः स तथा स्थितः॥२३५॥

यथा खलु परमेश्वरः स्वेच्छामाहात्म्याद्वाच्यात्मप्रमातृप्रमेयादिभावरूपेण स्थातुमिच्छुः सन्, तथा वाच्यात्मविश्वरूपतया स्थितः; तथाशब्दस्यावृत्त्या तथा तद्वदेव तस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो वाच्यस्य विश्वस्य यत् स्वम् अन्यापोढं रूपं, तस्याभिधानेन वाचकतया स्थातुमिच्छुः सन्, तथा वाचकात्मशास्त्ररूपतया स्थित इत्यर्थः ॥ २३५ ॥

एवमपि यद्यस्य क्वचिन्मिथ्यार्थत्वं स्यात् तदपि न कश्चिद्दोषः,—इत्याह

अर्थवादोऽपि यत्रान्य-
विध्यादिमुखमीक्षते ।
तत्रास्त्वसत्यः स्वातन्त्र्ये
स एव तु विधायकः ॥ २३६ ॥

यत्र खलु स्तुतिनिन्दादिरूपोऽर्थवादोऽन्यस्य विधिनिषेधात्मनो विधिवाक्यस्याङ्गभावमियात् तत्र स्वरूपपरत्वाभावादसावसत्योऽस्तु न कश्चिद्दोषः; नहि अस्य यथाश्रुतोऽर्थः प्रतिपाद्यः, किंतु विधेयो निषेध्यो वा, यदस्याङ्गभावेन प्रतिष्ठानम्; अत एव विधिवाक्यैकवाक्यतयैव अस्य प्रामाण्यम्—इति वाक्यविदः। यदाहुः

'इत्यर्थवादा विधिनैकवाक्य-
भावात्प्रमाणत्वममी भजन्ते ॥'

इति। तथाहि

'बर्हिषि रजतं न देयम्।'

इत्यस्य विधेः शेषभूतस्य

'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्।'

इत्यादेरर्थवादस्य न रुद्ररोदनादि प्रतिपाद्यं, किंतु

'बर्हिषि यो रजतं ददाति पुरास्य संवत्सराद्गृहे रोदनं भवति।'

इति 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इति। स एव पुनरर्थवादो यद्यन्याङ्गभावं न यायात् तदा विधायको यथाश्रुतार्थप्रतिपादको भवेदित्यर्थः। 'सोऽरोदीत्' इत्यादावर्थवादवाक्ये हि

'रुद्रो रुरोद तस्य यदश्रु अशीर्यत तद्रज-
तमभवत्।'

इति-वृत्तप्रतिपादनं सत्यार्थमेवेदम्, एवं-प्रायाणां बहूनामितिवृत्तानां सत्यत्वेनेष्टेः। तदुक्तम्

'यद्वा स्वरूपपरतामपि संस्पृशन्तः
प्रामाण्यवर्त्मन इमे न परिच्यवन्ते।
नैयायिका हि पुरुषातिशयं वदन्तो
वृत्तान्तवर्णनमपीह यथार्थमाहुः॥'

इति॥ २३६॥

न केवलमस्य स्वातन्त्र्य एव सत्यार्थत्वं यावत्पारतन्त्र्येऽपि, — इत्याह

विधिवाक्यान्तरे गच्छ-
न्नङ्गभावमथापि वा।

न निरर्थक एवायं
　　संनिधेर्गजडादिवत् ॥ २३७ ॥

यद्वा विधिनिषेधात्मनो विधिवाक्यस्याङ्गभावं गच्छन्नपि अयमर्थवादः संनिहितत्वान्न निरर्थक एव भवेत्। अत्र दृष्टान्तः 'गजडादिवत्' इति। यथाहि पदाद्यङ्गत्वेन संनिहिता वर्णा न निरर्थकाः तथायमपीति। वर्णानामानर्थक्ये हि वर्णव्यत्ययेऽर्थान्तरगमनं न स्यात्, यथा गजः जडः षोडः (?) इति। संघातस्यापि अर्थवत्त्वं न स्यात्—अवयवानामानर्थक्ये हि समुदायोऽप्यनर्थक एव भवेत्, यथा एकस्या अपि सिकतायास्तैलदानासामर्थ्ये तत्समुदायो राशिरप्यसमर्थः—इति। एवमर्थवादस्यापि आनर्थक्ये तत्संनिधानेन विधीयमाने निषिध्यमाने वार्थे सादरं प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न स्यात्। 'सोऽरोदीत्' इत्यादौ हि रोदनप्रभवं रजतं निन्दितुमेवमुक्तं, येन बर्हिषि तद्दानात् सादरं निवृत्तिर्भवेत्। लो-

केऽपि खलु 'इयं गौः क्रेतव्या' इत्यतो न तथा क्रेतारः प्रवर्तन्ते, यथा 'एषा बहुस्निग्धक्षीरा सुशीला स्त्र्यपत्यानघप्रजा च' इत्येवमादिभ्यः स्तुतिपदेभ्यः, – इति स्वानुभवसाक्षिकोऽयमर्थः ॥ २३७ ॥

अत आह

स्वार्थप्रत्यायनं चास्य
स्वसंवित्त्यैव भासते ।
तदपह्नवनं कर्तुं
शक्यं विधिनिषेधयोः ॥ २३८ ॥

अथ यद्येतत् बलात्कारेणापह्नूयते तत् विधिनिषेधात्मनो विधिवाक्यस्यापि अर्थापह्नवः कर्तुं शक्यः, – इत्याह 'तदपह्नवनम्' इत्यादि ॥२३८॥

न केवलमत्र स्वसंवित्तिरेव साधकं प्रमाणमस्ति, यावद्युक्तिरपि – इत्याह

युक्तिश्चात्रास्ति वाक्येषु
स्वसंविद्बाप्यबाधिता ।

या समग्रार्थमाणिक्य-
　　तत्त्वनिश्चयकारिणी ॥ २३९ ॥

युक्तिरिति समनन्तरोक्ता ॥ २३९ ॥

ननु भवतु नामेदमर्थवादवाक्यं विधिवाक्यं वा किमनया नश्चिन्तया, तत्रापि वेदशास्त्रोक्तः शुद्ध्यादिविभागस्तावत् यथोक्तयुक्त्या बाधितः, अनेन च न किंचिच्छुद्धं विहितं नाप्यशुद्धं तृतीयश्च राशिर्नास्ति,—इति शुद्ध्यशुद्धिविधानमेव न सिद्ध्येत्? इत्याशङ्क्याह

मृतदेहेऽथ देहोत्थे
　　या चाशुद्धिः प्रकीर्तिता ।
अन्यत्र नेति बुद्ध्यन्ता-
　　मशुद्धं संविदश्च्युतम् ॥ २४० ॥
संवित्तादात्म्यमापन्नं
　　सर्वं शुद्धमतः स्थितम् ।

वेदशास्त्रे हि मृतदेहे देहाच्च्युते मलादौ च

यदशुद्धिरुक्ता अन्यत्र जीवद्देहे देहस्थ एव मलादौ च न,—इत्यतः संवित्सहभावासहभाव-निबन्धनाद्धेतोः संविदः सकाशात् यत् च्युतं भिन्नं तदशुद्धं बुद्ध्यन्तां विशेषानुपादानात् सर्व एवावगच्छन्त्वित्यर्थः। अत एव च यत्किंचित् संविदैक्यमापन्नं तत् सर्वं शुद्धमिति; तेन संविदैकात्म्यानैकात्म्याभ्यां सर्वत्र शुद्ध्यशुद्धि-विभागः,—इति स्थितं सिद्धम् ॥ २४० ॥

नच एतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धं यावदागमेनापि,—इत्याह

श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं
शुद्ध्यशुद्धिनिरूपणे ॥ २४१ ॥

तदेव शब्दद्वारेण पठति

सर्वेषां वाहको जीवो
नास्ति किंचिदजीवकम् ।

यत्किंचिज्जीवरहित-
　　मशुद्धं तद्विजानत ॥ २४२ ॥

जीवयति निखिलमिदं भूतजातं ज्ञानक्रियोत्तेजनेन प्राणयति — इति जीवः परप्रकाशः, स सर्वेषां प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य वाहयति संधारयति — इति वाहकः स्वात्मसंलग्नतयावभासक इत्यर्थः। अत्र हेतुः 'नास्ति किंचिदजीवकम्' इति, नहि प्रकाशातिरिक्तं किंचिदपि भायादिति भावः। यत् पुनः किंचिज्जीवरहितं तदैकात्म्येनासंवेद्यमानं, तदशुद्धं विजानत अनुपपत्त्यवस्करदूषितत्वात् परिहरणीयतयावगच्छतेत्यर्थः। एवं संविदतिरिक्तस्याशुद्धत्वेनाभिधानात् इतरत् पुनः शुद्धमेव, — इत्यर्थसिद्धम् ॥ २४२ ॥

तदाह

तस्माद्यत्संविदो नाति-
　　दूरे तच्छुद्धिमावहेत् ।

तदुक्तं तत्रैव

'अशुद्धं नास्ति तत्किंचित्सर्वं तत्र व्यवस्थितम् ।
यत्तेन रहितं किंचिदशुद्धं तेन जायते ॥'

इति ॥

नन्वेवं शुद्ध्यशुद्धिविभागो न कैश्चिन्महात्मभिः परिगृहीतः,—इति कथमत्र सतां समाश्वासः स्यात्? इत्याशङ्क्याह

अविकल्पेन भावेन
मुनयोऽपि तथाभवन् ॥ २४३ ॥

तथेति संविदैकात्म्यानैकात्म्याभ्यां शुद्ध्यशुद्धिविभागभाज इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'ऋषिभिर्भक्षितं पूर्वं गोमांसं च नरोद्भवम् ।'

इति । यदि नाम हि ते—द्रव्याणां संविदैकात्म्यमेव शुद्धिः—इति न जानीयुः, तत् कथं शास्त्रबहिष्कृतं लोकविरुद्धं गोमांसादि भक्षयेयुः; अत एव हि बाह्यचर्यायाम्

'यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टं यच्च शास्त्रबहिष्कृतम् ।
यज्जुगुप्स्यं च निन्द्यं च वीरैराहार्यमेव तत् ॥'

इत्याद्युक्तया विकल्पप्रहाणाय लोकशास्त्रविरुद्धं द्रव्यजातमभिहितम् । यन्नाम सर्वद्रव्याणां लोकविरुद्धत्वादि न वास्तवं रूपं, किंतु परा संविदेव,—इति किं नाम जुगुप्स्यं निन्द्यं वा सर्वत्रैव संविद्रूपत्वाविशेषात्; अत एव तत्र चित्तप्रत्यवेक्षामात्रमेव प्रयोजनं—किं संविदेकाग्रीभूतं चित्तं न वा—इति । यदुक्तम्

'न चर्या भोगतः प्रोक्ता या ख्याता भीमरूपिणी ।
स्वचित्तप्रत्यवेक्षातः स्थिरं किं वा चलं मनः ॥'

इति ॥ २४३ ॥

ननु यद्येवं तन्मुनिभिर्गोमांसादि कथमभक्ष्यतयोपदिष्टम् ? इत्याशङ्क्याह

लोकसंरक्षणार्थं तु
तत्तत्त्वं तैः प्रगोपितम् ।

एवमुपदिष्टे हि अलब्धसंविदैकात्म्योऽपि लोको लोभलौल्याभ्यां यत्तत् कुर्वाणो लोकयात्रामुच्छिन्द्यात्,—इति, तत् तत्त्वं संविदद्वैतात्म पारमार्थिकं रूपं तैः प्रकर्षेण तत्तद्द्रव्यदूषणादिद्वारेण गोपितं न प्रकाशितमित्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

'ज्ञात्वा समरसं सर्वं दूषणादि पुनः कृतम् ।'

इति । यदभिप्रायेणैव

'यत्ते कुर्युर्न तत्कुर्याद्यद्ब्रूयुस्तत्समाचरेत् ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

नन्विदं भावजातं बहीरूपतया चेन्न संभवति तत् कस्य शुद्ध्यशुद्धी स्यातां, यदधिकारेणापि अयं विचार आरभ्येत; अथ यदि संभवति, तद्यथैव संभवति तथैव भवेत्, किं तस्य प्रमातृसंबन्धिना परिज्ञानेन? इत्याशङ्क्याह

बहिः सत्स्वपि भावेषु

शुद्ध्यशुद्धी न नीलवत् ॥ २४४ ॥

प्रमातृधर्म एवायं
　　चिदैक्यानैक्यवेदनात् ।

बहीरूपतयाभ्युपगम्यमानेष्वपि भावेषु नीलादिन्यायेन प्रतिभासविकारकारित्वाभावात् शुद्ध्यशुद्धी न वस्तुनो धर्मः, किंतु प्रमातुः; प्रमाता हि चिदैक्यानैक्यवेदकतया सातिशयः संस्तथा व्यवस्यति 'इदं शुद्धमिदमशुद्धम्' इति; अत एव शुद्ध्यशुद्धी न नियते, कस्यचिद्धि यदशुद्धं तन्नान्यस्येति । वस्तुधर्मत्वे हि भवेन्नाम अयं नियमो — यदिदं शुद्धमिदमशुद्धम् — इति, नहि कस्यचित् नीलमप्यनीलं भवेत् ॥ २४४ ॥

ननु प्रमातुस्तत्तद्वस्तुदर्शनेनैव हि मनः प्रसीदेद्विचिकित्स्याच्च, — इति कथं न शुद्ध्यशुद्धी वस्तुनो धर्मः? इत्याशङ्क्याह

यदि वा वस्तुधर्मोऽपि
　　मात्रपेक्षानिबन्धनः ॥ २४५ ॥

सौत्रामण्यां सुरा होतुः
शुद्धान्यस्य विपर्ययः ।

यदि नाम शुद्ध्यशुद्ध्योर्वस्तुधर्मत्वमभ्युपेयते, तदपि प्रमातृपारतन्त्र्यमेव अत्र निबन्धनं भवेत्। यथाहि—यमेव प्रमातारमपेक्ष्य द्वित्वबुद्धिरुपजायते तस्यैव तद्ग्रहो भवेत् नेतरस्य, तत्र तस्यैकत्वादिबुद्ध्युपजननस्यापि संभाव्यमानत्वात्; एवं येनैव प्रमात्रा यच्छुद्धतया गृहीतं तस्यैव तच्छुद्धं नापरस्य। तथाहि—एकैव सुरा सौत्रामण्यां होतुर्याजकस्य शुद्धा अवघ्राणभक्षणादौ योग्येत्यर्थः।

'सुराया अवघ्राणः कर्तव्यः।'

इति। अन्यस्य सौत्रामण्यामयाजकस्य पुनरशुद्धा अवघ्राणादावयोग्येत्यर्थः। यत्स्मृतिः

'ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥'

इति। तस्मात् वस्तुधर्मत्वेऽपि अनयोर्मात्रपेक्षा-

निबन्धनत्वं यदि न स्यात्, तत् सर्वानेव प्रति सुरायाः शुद्धत्वमेव भवेदशुद्धत्वमेव वेति। एवं सुरायाः सामान्येनाशुद्धत्वं विहितं, सौत्रामणी-होतृविषयत्वेन विशेषश्रुत्या विरोधाद्बाधितमि-त्यवगन्तव्यम् ॥ २४५ ॥

ननु उक्तवच्छैव्या चोदनया यदि वैदिकी चोदना बाधिता तद्यावदास्तां, वैदिक्या पुन-श्चोदनया स्वेनैव स्वं बाध्यते, — इत्येतन्न यौक्ति-कमिव नः प्रतिभासते? इत्याशङ्क्याह

अनेन चोदनानां च
स्ववाक्यैरपि बाधनम् ॥ २४६ ॥
क्वचित्संदर्शितं ब्रह्म-
हत्याविधिनिषेधवत् ।

'स्ववाक्यैः' इति अपवादरूपैः। 'क्वचित्' इति उत्सर्गविषये । 'संदर्शितम्' इत्यनेन यथोक्तयुक्त्या नैवमयौक्तिकत्वपर्यवसायी क-श्चिद्दोषः, — इति प्रकाशितम् । अपिशब्देन न

केवलं शास्त्रान्तरीयैर्वाक्यैः,—इत्युक्तम् । अतश्च नास्माभिरपूर्वं किंचिदुत्प्रेक्षितं—यन्नामोक्तं 'शैव्या विशेषचोदनया सामान्यात्मिका वैदिकी चोदना बाधिता' इति । न च एतत् प्रामादिकम् अपितु भूम्ना,—इति दर्शयितुं 'ब्रह्महत्याविधिनिषेधवत्' इति दृष्टान्तितम् । एवं यथा

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः ।'

इति सामान्येन ब्रह्महत्यानिषेधो विहितः

'ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत ।'

इति विशेषश्रुत्या बाधितः, तथा सुराया अपि अशुद्धत्वमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

एवं शुद्ध्यशुद्धिविषये कृतं विचारमन्यत्रापि अतिदिशति

भक्ष्यादिविधयोऽप्येनं
न्यायमाश्रित्य चर्चिताः ॥२४७॥

'न भक्ष्यादिविचारणम्' इत्यत्र 'नात्र भक्ष्यं न चाभक्ष्यम्' इत्यादयोऽर्थसामर्थ्यलभ्या विधयोऽपि अनेनैव न्यायेन गतार्थाः,—इत्यर्थः ॥ २४७ ॥

ननु यथा शैव्या विशेषचोदनया सामान्यात्मिका वैदिकी चोदना बाध्यते, तथा वैदिक्यापि शैवी चोदना किं न वा? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य आगमार्थमेव दर्शयितुमुपक्रमते

सर्वज्ञानोत्तरादौ च
भाषते स्म महेश्वरः ।

तदेवार्थद्वारेण पठति

नरर्षिदेवद्रुहिण-
विष्णुरुद्राद्युदीरितम् ॥ २४८ ॥
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात्
पूर्वपूर्वप्रबाधकम् ।

नरोक्तस्य ऋष्युक्तं बाधकं, यावद्विष्णूक्तस्य रुद्रोक्तम्, तदाह 'पूर्वपूर्वप्रबाधकम्' इति। अत्र

उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं हेतुः । सामान्यस्य हि विशेषेण बाधो न्याय्यः,—इति भावः ॥ २४८ ॥

अत एव विपर्ययेण बाधो न भवेदित्याह

न शैवं वैष्णवैर्वाक्यै-
र्बाधनीयं कदाचन ॥ २४९ ॥
वैष्णवं ब्रह्मसंभूतै-
र्नेत्यादि परिचर्चयेत् ।

'ब्रह्मसंभूतैः' वेदवाक्यैरित्यर्थः । यच्छ्रुतिः

'प्रजापतिना चत्वारो वेदा असृज्यन्त ।'

इति । यत्र च वैष्णवं वेदवाक्यैर्न बाध्यते तत्र शैवबाधने का वार्ता,—इत्यर्थसिद्धम् । आदिशब्दाद्ब्रह्मसंभूतानामपि देववाक्यैर्न बाधः,—इत्यादि ग्राह्यम् । यदुक्तं तत्र

'न पुंभिरार्षवाक्यं च वैदिकं चार्षिभिस्तथा ।
न देवैर्ब्रह्मणो वाक्यं वैष्णवं पद्मजन्मजैः ॥
न शैवं विष्णुवचनैर्बाध्यते तु कदाचन ।'

इति ॥ २४९ ॥

ननु विपर्ययेणापि बाधे को दोषः? इत्याशङ्क्याह

बाधते यो वैपरीत्या-
त्समूढः पापभाग्भवेत् ॥२५०॥

वैपरीत्यं पूर्वेणोत्तरस्य बाधः। यदुक्तं तत्र

'यो हि बाधयते पापः स मूढो नष्टचेतनः।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं सर्वेषां परिकीर्तितम् ॥'

इति ॥ २५० ॥

एवं सर्वोत्कृष्टत्वाच्छैव एव शास्त्रे मुख्यया वृत्त्या निष्ठा कार्या, नान्यत्रेत्याह

तस्मान्मुख्यतया स्कन्द
लोकधर्मान्न चाचरेत्।

निष्ठाशून्यतया तु गौण्या वृत्त्या लोकसंरक्षणार्थं लोकधर्मानाचरतो न कश्चिद्दोषः,—इति भावः। तदुक्तं तत्र

'ये तु वर्णाश्रमाचाराः प्रायश्चित्ताश्च लौकिकाः।
संबन्धान्देशधर्मांश्च प्रसिद्धान्न विचारयेत् ॥

गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च ।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक् ।
न मुख्यवृत्त्या वै स्कन्द लोकधर्मान्समाचरेत् ॥'

इति । अत एव

'अन्तः कौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः ।
सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा ॥'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

ननु मुख्यया वृत्त्या यदि लोकधर्मान्नानुतिष्ठेत् तच्छैवशास्त्राङ्गभावेन किं न वा? इत्याशङ्क्याह

नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं
स्रोतस्युक्तं निजे चरेत् ॥२५१॥

'निजे स्रोतसि' आत्मीये शास्त्रे

'आ कण्ठतः पिबेन्मद्यम् ................ ।'

इत्याद्युक्तमेवार्थं 'चरेत्' अनुतिष्ठेत्, न पुनस्तमपास्य

'सुरा न पेया ।'

इत्यादि शास्त्रान्तरोद्दिष्टम् । भगवता हि पृथगधिकारिभेदेन परस्परविलक्षणानि शास्त्राण्युपदिष्टानि,—इत्यन्यं प्रति उपदिष्टं कथमन्यस्यानुष्ठेयं स्यात् । तदुक्तं तत्र

'नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं न चान्यां देवतां स्मरेत् ।
विशुद्धभावनायुक्तः शिवैकगतमानसः ॥'

इति । एतच्च समानतन्त्रापेक्षयापि योज्यं; यतस्तान्यपि क्रियादिभेदाद्भिन्नान्येव,—इत्यागमविदः । यदाहुः

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्माद्यत्र यदेवोक्तं तत्कार्यं नान्यतन्त्रतः ॥'

इति । अपेक्षायां पुनरुत्पन्नायां शास्त्रान्तरादपेक्षणीयम्, अन्यथा हि तत्तदितिकर्तव्यताकलापस्यापरिपूर्तिः स्यात् । तथाहि श्रीपूर्वशास्त्रे

'तत्र द्वारपतीनिष्ट्वा महास्त्रेणाभिमन्त्रितम् ।
पुष्पं विनिक्षिपेद्ध्यात्वा ज्वलद्विघ्नप्रशान्तये ॥'

इत्यादौ द्वारपतीनां कथमिष्टिः,—इत्यपेक्षायां समानतन्त्रात् श्रीत्रिशिरोभैरवात्

'ततो मूले उत्तरतो नन्दिरुद्रं च जाह्नवीम् ।
महाकालं सदंष्ट्रं च यमुनां चैव दक्षिणे ॥'

इत्याद्यपेक्षणीयम् । अत्रैव च 'ज्वलत्पुष्पं कथं विनिक्षिपेत्' इत्यपेक्षायां समानतन्त्रे तत्क्षेपस्य सुस्पष्टमनभिधानात् समानकल्पाच्छ्रीस्वच्छन्द-शास्त्रात्

'भैरवास्त्रं समुच्चार्य पुष्पं संगृह्य भावितः ।
सप्ताभिमन्त्रितं कृत्वा ज्वलदग्निशिखाकुलम् ॥
नाराचास्त्रप्रयोगेण प्रविशेद्धृद्दमध्यतः ।'

इत्याद्यपेक्षणीयम् । नाराचास्त्रस्य च प्रयोगः कीदृक्? इत्यपेक्षायां समानकल्पेऽपि शास्त्रे तदनुपलम्भात् अत्यन्तमसमानात् अनन्तविजयाख्यात् सिद्धान्तशास्त्रात्

'उत्तानं तु करं कृत्वा तिस्रोऽङ्गुल्यः प्रसारयेत् ।
मध्यमाङ्गुष्ठकौ लग्नौ चालयेत मुहुर्मुहुः ॥
नाराचः कीर्तितो ह्येवम् ........................ ।'

इत्याद्यपेक्षणीयम् । अपेक्षानिवृत्तिर्हि नः फलं, सा च यत एव भवेत् तदेवापेक्षणीयं, किं स-

मानत्वासमानत्वदुर्ग्रहेण । एवमपेक्षायां सत्यां समानादसमानाद्वा शास्त्रान्तरात् तावदपेक्षणीयं यावदपेक्षाया निवृत्तिः स्यात्, तदभावे पुनर्निर्निबन्धनमेव शास्त्रान्तरोक्तस्यापेक्षणीयत्वे सर्वस्यैव तत्प्रसङ्गादनवस्थितमेव शास्त्रार्थानुष्ठानं स्यात् । यदाहुः

'सापेक्षत्वेऽप्यपेक्षैव मानं यावदपेक्षते ।
तावदेवान्यतः कार्यं नान्यत्स्यादनवस्थितेः ॥'

इति ॥ २५१ ॥

ननु निखिलमिदं शास्त्रजातं भगवतैव सकलजगदुद्दिधीर्षयोपदिष्टं, तत्तदुक्तार्थानुष्ठानमवश्यकार्यं, येन संसारमोहः शाम्येत्, —इति तद्यथास्तु, किमनेन विचारेण? इत्याशङ्क्याह

यतो यद्यपि देवेन
वेदाद्यपि निरूपितम् ।
तथापि किल संकोच-
भावाभावविकल्पतः ॥ २५२ ॥

वेदादीनां सर्वशास्त्राणां परमेश्वर एवोपदेष्टा,—इति नास्ति विवादः; किंतु तेन संकोचभावाभावभेदेन द्विधा शास्त्राण्युपदिष्टानि—कानिचिद्भेदप्रधानानि कानिचिदभेदप्रधानानि—इति। तत्र भेदप्रधानानि वेदादीनि शास्त्राणि, अभेदप्रधानानि च शैवादीनि ॥ २५२॥

तदाह

संकोचतारतम्येन
पाशवं ज्ञानमीरितम्।
विकासतारतम्येन
पतिज्ञानं तु बाधकम् ॥ २५३ ॥

'संकोचो' भेदप्रथा। पशूनामिदं 'पाशवं' वेदादि। 'विकासः' संकोचाभावादभेदप्रथा, अत एव भेदप्रथाया बाध्यत्वादिदं बाधकम्। भेदो हि संसारः, स च सर्वेषामेवोच्छेद्यः,—इत्यविवादः। एवं च बाध्यबाधकयोः सांकर्येणानुष्ठानं दुष्येत्,—इति यथोक्तमेव युक्तम्। अत एवान्यत्र

'पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा पतिशास्त्रं समाश्रयेत् ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ २५३ ॥

इदानीं 'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्' इति व्याचष्टे

इदं द्वैतमिदं नेति
परस्परनिषेधतः ।
मायीयभेदक्लृप्तं त-
त्स्यादकाल्पनिके कथम् ॥ २५४ ॥

यन्नाम किंचनेदं द्वैतं नानारूपत्वं तदपास्य ऐकात्म्यलक्षणमद्वैतमाश्रयेत्, – इत्यादि यदन्यत्रोक्तं, तदकाल्पनिके कवलीकृततत्तत्कल्पनाकलापे स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपे परे तत्त्वे कथं स्यात्, न युज्यते इत्यर्थः । यतस्तत् अन्यापोहरूपत्वेन परस्परप्रतिक्षेपात् 'माया' स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः, तत आगतो योऽसौ 'भेदः' तेन 'क्लृप्तम्' अनुप्राणितं कल्पनामात्रसतत्त्वमित्यर्थः ॥ २५४ ॥

---

पं० १२ क० पु० स्फुरत्ता सारे इति पाठः ।

किं चात्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं भर्गशिखायां च
मृत्युकालकलादिकम् ।
द्वैताद्वैतविकल्पोत्थं
ग्रसते कृतधीरिति ॥ २५५ ॥

इह खलु अविकल्पकपरसंविदावेशवशात् कृतार्था 'धीः' ज्ञानं यस्यासौ प्राप्तपरसंविदैकात्म्यो योगी, 'द्वैताद्वैतविकल्पात्' उत्थितं भेदानुप्राणनयोल्लसितं 'मृत्युकालकलादिकं ग्रसते' स्वात्मसात्करोति, नात्र काचिज्जन्ममरणादिका मानमेयादिरूपा च कल्पनास्तीत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'मृत्युं च कालं च कलाकलापं
विकारजातं प्रतिपत्तिजालम् ।
ऐकात्म्यनानात्मवितर्कजातं
तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥'

पं० ९ क० पु० प्राणनतयेति पाठः ।
पं० १५ क० पु० सात्म्यम् इति पाठः ।

इति ॥ २५५ ॥

अथ 'लिङ्गपूजादिकं न च' इति व्याकुरुते

सिद्धान्ते लिङ्गपूजोक्ता
　　विश्वाध्वमयताविदे ।
कुलादिषु निषिद्धासौ
　　देहे विश्वात्मताविदे ॥ २५६ ॥
इह सर्वात्मके कस्मा-
　　त्तद्विधिप्रतिषेधने ।

'विश्वः' षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मको योऽसौ 'अध्वा' तद्रूपतां वेत्तुं, 'सिद्धान्ते' भेददर्शने लिङ्गपूजाविधिर्विहितः। पारमेश्वरं हि लिङ्गं गर्भीकृतनिखिलाध्वप्रपञ्चम्, —इति तत्पूजनेन समग्रमेवेदं जगत्साक्षात्कृतं भवेदिति भावः। यदाहुः

'लिङ्गे परमशिवान्तां
　　व्याप्तिं पीठे सदाशिवमान्ताम् ।
ब्रह्मशिलायां माया-
　　पर्यन्तां भावयद्भिरिमैः ॥'

पं० १० क० पु० पूजादिरिति पाठः ।

इति,

'इष्टेन शिवलिङ्गेन विश्वं संतर्पितं भवेत् ।'

इति च। 'कुलादौ' अद्वयदर्शने पुनरसौ लिङ्ग-पूजा 'निषिद्धा' यतो देह एव सर्वाध्वमयः,—इति तत्रैव तत्साक्षात्कारः सुलभः,—इति किमनुपपत्तिना बाह्येन लिङ्गादिना फलम्। यदुक्तम्

'यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं बाह्यं लिङ्गं न पूजयेत् ।'

इति । तथा

'हृदयगुहागेहगतं
सर्वज्ञं सर्वगं परित्यज्य ।
प्रणमति मितमतिरशिवं
शिवाशयाश्मादिमश्लाघ्यम् ॥'

इति। इह पुनः परमाद्वयरूपे त्रिकदर्शने तद्विधिना तन्निषेधेन वा न किंचित्प्रयोजनम्,—इत्युक्तं 'नात्र लिङ्गपूजा नापि तत्परित्यागः' इति। यत इदं सर्वात्मकं, यावता हि पारमेश्वरपरसंवित्स्फाररूपतया इदं जगत्परिज्ञेयं,

तच्च सर्वस्यैव संवित्स्फाररूपत्वात् देहनिष्ठतया अस्तु, अन्यथा वा, किं नाम सार्वात्म्यप्रतिपत्तिविघ्नभूतेन देहबाह्याद्यभिमानेन भवेत्,—इति भावः। यदाहुः

'न क्वापि गत्वा हित्वा वा न किंचिदिदमेव ये।
भव त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः॥'

इति॥ २५६॥

इदानीं जटाभस्मादिसंग्रहादि आचष्टे

नियमानुप्रवेशेन
तादात्म्यप्रतिपत्तये॥ २५७॥
जटादि कौले त्यागोऽस्य
सुखोपायोपदेशतः।

'नियमाः'

'जटी मुण्डी शिखी दण्डी पञ्चमुद्राविभूषितः।
प्रमादान्मैथुनं कृत्वा मम द्रोही महेश्वरि॥'

इत्याद्युक्त्या वैराग्यादयः, तत्र 'अनुप्रवेशो'ऽभ्यासः, तेन या 'तादात्म्यप्रतिपत्तिः' पारमेश्वरस्वरूपसमावेशः, तन्निमित्तं सिद्धान्ते बहु-

क्लेशसाध्यं जटाभस्मादि विहितम् । यदुक्तम्

‘ कलातत्त्वपवित्राणुशक्तिमन्त्रेशसंख्यया ।
विभज्य केशान्संपात्य प्रत्यंशं संहिताणुभिः ॥
व्रतेश्वरस्य पुरतो बध्नीयाच्छिवतेजसा ।’

इति । तथा

‘ व्रतिनो जटिनो मुण्डास्तेष्वग्र्या भस्मपाण्डुराः ।
तिलकैः पुण्ड्रकैः पट्टैर्भूषिता भूमिपादयः ॥ ’

इति । ‘ कौले ’ कुलदर्शने पुनः ‘ अस्य ’ जटाभस्मादेः ‘ त्यागो ’ निषेधो विहितः,—इत्यर्थः । यदुक्तम्

‘ जटाभस्मादिचिह्नं च ध्वजं कापालिकं व्रतम् ।
शूलं खट्वाङ्गमत्युग्रं धारयेद्यस्तु भूतले ॥
न तस्य संगमं कुर्यात्कर्मणा मनसा गिरा । ’

इति । यतोऽत्र

‘ यत्र यत्र मिलिता मरीचय-
स्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते । ’

इत्याद्युक्त्या विषयासङ्गेऽपि पारमेश्वरस्वरूपापत्तेः, ‘ सुखेन ’ अयत्नेन ‘ उपायस्योपदेशः ’ यदुक्तम्

---

पं० ११ ख० पु० जिह्मंचेति पाठः ।

‘ पूर्वैर्निरोधः कथितो वैराग्याभ्यासयोगतः ।
अस्माभिस्तु निरोधोऽयमयत्नेनोपदिश्यते ॥ ’

इति । निष्परिग्रहतादि पुनः पृथङ्न व्याख्यातम् अनेनैव गतार्थत्वात्, प्रथमतुर्यपादाभ्यामेव हि एतदर्थोऽभिहितः,—इति भावः । इह पुनः सार्वात्म्यात् तद्विधिप्रतिषेधने न भवतः,—इति प्राच्येन संबन्धः । इह हि संविदैकात्म्यं नामोपेयम्, तत्र च यदेव यदा संनिकृष्टं तदेव तदा ग्राह्यम्, इतरत् तु त्याज्यम्,—इति जटादेर्विधिरस्तु निषेधो वा किमनेन नः प्रयोजनम् । यद्वक्ष्यति

‘ परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा ।
उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित् ॥ ’
( ४।२७९ )

इति ॥ २५७ ॥

अथ व्रतादीनां चरणाचरणं व्याचष्टे

**व्रतचर्या च मन्त्रार्थ-**
**तादात्म्यप्रतिपत्तये ॥ २५८ ॥**

तन्निषेधस्तु मन्त्रार्थ-
सार्वात्म्यप्रतिपत्तये ।

चशब्दात् सिद्धान्ते उक्ता,—इत्यनुवर्तनीयम् । 'मन्त्रार्थो' नियतो वाच्यदेवतादिः, 'तन्निषेधः' अर्थात्कौले । 'सार्वात्म्यं' विश्वाभेदः । इह पुनस्तस्या न विधिर्निषेधो वा,—इत्येतत् सर्वं पूर्वमेव व्याख्यातम्,—इति न पुनरायस्तम् ॥ २५८ ॥

अथ क्षेत्रादिसंप्रवेशं व्याख्यातुमाह

क्षेत्रपीठोपपीठेषु
प्रवेशो विघ्नशान्तये ॥ २५९ ॥
मन्त्राद्याराधकस्याथ
तल्लाभायोपदिश्यते ।

'क्षेत्रं' मेलापस्थानं, 'पीठं' कामरूपादि 'उपपीठं' देवीकोट्टादि । 'तल्लाभाय' इति

तस्य मन्त्रादेः प्रियमेलापादिक्रमेण सिद्धादे-र्लाभः, तन्निमित्तं वा । यदुक्तम्

'क्षेत्रोपक्षेत्रसंदोहाद्याश्रयान्निर्मलो भवेत् ॥'

इति ॥ २५९ ॥

अन्यत्र चात्र निषेधः कृतः,—इत्याह

क्षेत्रादिगमनाभाव-
विधिस्तु स्वात्मनस्तथा ॥२६०॥
वैश्वरूप्येण पूर्णत्वं
ज्ञातुमित्यपि वर्णितम् ।

आदिशब्दात् पीठादेर्ग्रहणम् । 'तथा' इति प्रागुक्तेन प्रकारेण । तदुक्तम्

'नातः किंचिदपास्यं
प्रक्षेप्तव्यं च नात्र किंचिदपि ।
परिपूर्णे सत्यात्मनि
किं नु क्षेत्रादिपर्यटनैः ॥'

इति । इह पुनरेतदुभयमपि नास्तीति प्रागेवो-

पं० १ क० ग० पु० सिध्यादेरिति पाठः ।

क्तम्, — इत्याह 'इत्यपि वर्णितम्' इति । तदु-
क्तम्

'इह सर्वात्मके कस्मात्तद्विधिप्रतिषेधने ।' (४।२९७)

इति ॥ २६० ॥

अथ समयादिप्रपालनमाचष्टे

समयाचारसद्भावः
पाल्यत्वेनोपदिश्यते ॥ २६१ ॥
भेदप्राणतया तत्त-
त्त्यागात्तत्त्वविशुद्धये ।
समयादिनिषेधस्तु
मतशास्त्रेषु कथ्यते ॥ २६२ ॥
निर्मर्यादं स्वसंबोधं
संपूर्णं बुध्यतामिति ।

इदं कुर्यादिदं न कुर्यात्, — इत्येवमात्मा समयाचारः । 'भेदप्राणतया' इति किंचित् हि त्यक्त्वा किंचिदुपादीयते, — इत्येवमात्मा भेदः,

यथा शास्त्रान्तरत्यागेन स्वशास्त्रे प्ररोहः । यद्व-क्ष्यति

‘ अन्यस्तमन्त्रो नासीत सेव्यं शास्त्रान्तरं च नो ।
अप्ररूढं हि विज्ञानं कम्पेतेतरभावनात् ॥’
(२९।९६३)

इति । समविषमलक्षणेषु ‘मतशास्त्रेषु’ पुनः ‘समयादेर्निषेधो’ विहितः । तथा च तत्रत्यो ग्रन्थः, – इत्याह ‘ निर्मर्यादमित्यादि ’ । तद्धि परं तत्त्वं ‘स्वसंबोधं’ स्वप्रकाशम्, अत एवा-नन्यापेक्षत्वात् ‘संपूर्णम्,’ अत एव चानियत-तरूपत्वात् ‘निर्मर्यादं’ निर्यन्त्रणं ‘बुध्यताम्’ अनुभूयतामित्यर्थः । तदेवम् एवंविधे परे तत्त्वे कथं नाम हानोपादानाद्यपेक्षासहस्रसंभिन्नः समयाचारः शुद्धिनिमित्तम्, – इति भावः॥२६२

अथ ‘परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत्’ इति व्याख्यातुकामः क्रमेण परकीयं स्वकीयं च रूपाद्याचष्टे

परकीयमिदं रूपं
ध्येयमेतत्तु मे निजम् ॥ २६३ ॥
ज्वालादिलिङ्गं चान्यस्य
कपालादि तु मे निजम् ।

'एतत्' इति ध्यातृस्वभावम् । 'ज्वालादि' इति बाह्यैषणादिसमुत्थत्वात् परकीयम् । 'निजम्' इति स्वशरीरावस्थितम् ॥ २६३ ॥

'लिङ्गादि' इत्यादिशब्दार्थमाह

आदिशब्दात्तपश्चर्या-
वेलातिथ्यादि कथ्यते ॥२६४॥

'तपः' चान्द्रायणादि, 'चर्या' चर्यापादोक्त आचारः, 'वेला' मध्याह्नार्धरात्रादिरूपा, 'तिथिः' प्रतिपदादिरूपा ॥ २६४ ॥

नाम शक्तिशिवाद्यन्त-
मेतस्य मम नान्यथा ।

---

पं० ३ क० ख० पु० जालादिलिङ्गं चान्यत्तु कपालादि चेति पाठः ।

'एतस्य' सैद्धान्तिकस्य साधकस्य, व्रतपरिग्रहादौ पुष्पपातादिक्रमेण क्रियमाणं नाम शक्तिशिवाद्यन्तं स्यात्। तेन शिखाशक्तिः, ईशानशिवः; आदिशब्दाद्गणाद्यन्तं, यथा कवचगणः। तदुक्तम्

'स्रजं विमोचयेन्नाम दीक्षितानां तदादिकम्।
शिवान्तकं द्विजेन्द्राणामितरेषां गणान्तकम्॥'

इति। तथा

'शिशुना क्षिप्तमकामा-
न्निपतेत्तद्यत्र नाम तत्पूर्वम्।
शक्त्यन्तं नारीणां
शिवशब्दान्तं नृणां कुर्यात्॥
एवं विप्रक्षत्रियविशां
शूद्राणां तु भवेद्गणप्रान्तम्॥'

इति। 'अन्यथा' इति बोध्याद्यन्तम्, स्वस्वसंततिक्रमेणौवल्यन्तं हि पूजानाम भवेत्, — इति रहस्यशास्त्रविदः, — तदुक्तम्

पं० १५ ख० पु० बोधादीति पाठः।

'बोधिः प्रभुस्तथा योगी आनन्दः पाद आवलिः ।
वीराणां वीरपत्नीनां कल्प्यं नामैतदन्तकम् ॥'

इति । तेन सत्यबोधिः विश्वप्रभुरित्यादि ॥

गोत्रं च गुरुसंतानो
मठिकाकुलशब्दितः ॥ २६५ ॥

तस्य मठिकेति कुलमिति चाभिधानद्वयम् ॥ २६५ ॥

तत्र का मठिका? इत्याह

श्रीसंततिस्त्र्यम्बकाख्या
तदर्धामर्दसंज्ञिता ।
इत्थमर्धचतस्रोऽत्र
मठिकाः शांकरे क्रमे ॥ २६६ ॥
युगक्रमेण कूर्माद्या
मीनान्ता सिद्धसंततिः ।

न केवलमर्धचतस्र एव मठिका यावदन्या अपीत्याह 'युगेत्यादि'। आद्यशब्दस्तन्त्रेण व्या-

ख्येयः; तेन कूर्मस्य त्रेतायुगावतारकस्य श्री-कूर्मनाथस्याद्यः कृतयुगावतारकः श्रीखगेन्द्र-नाथः स आद्यो यस्याः सा तथेति । कुलश-ब्दस्य गुरुकुलमित्यादौ लोकप्रसिद्धेः पृथग्व्या-ख्यानं न कृतम् ॥ २६६ ॥

'गोत्रादि' इत्यादिशब्दार्थमाह

आदिशब्देन च घरं
पल्ली पीठोपपीठकम् ॥ २६७ ॥
मुद्रा छुम्मेति तेषां च
विधानं स्वपरस्थितम् ।

'घरम्' इति षण्णां साधिकाराणां राजपु-त्राणां भिन्नं भिन्नमाश्रमस्थानम् । 'पल्ली' भि-क्षास्थानम् । यद्वक्ष्यति

'एते हि साधिकाराः
पूज्या येषामियं बहुविभेदा ।
संततिरनवच्छिन्ना
चित्रा शिष्यप्रशिष्यमयी ॥

आनन्दावलिबोधि-
प्रभुपादान्ताथ योगिशब्दान्ता ।
एता ओवल्ल्यः स्यु-
र्मुद्राषट्कं क्रमात्त्वेतत् ॥
दक्षाङ्गुष्ठादिकनिष्ठा-
न्तमथ सा कनीयसी वामात् ।
द्विदशान्तोर्ध्वगकुण्डलि-
बैन्दवहृन्नाभिकन्दमिति छुम्माः ॥
शवराडबिल्लखट्टिल्लाः
करबिल्लाम्बिलशरबिल्लाः ।
अडवी-डोम्वी-दक्षिण-
पल्ली कुम्भारभिल्लिकाक्षरपल्ली ॥
देवीकोट्टकुलाद्रि-
त्रिपुरीकामाख्यमट्टहासश्च ।
दक्षिणपीठं चैत-
त्षट्कं घरपल्लिपीठगं क्रमशः ॥' ( २९।३९ )

इति। 'स्वपरस्थितम्' इति स्वस्वसंततिक्रमेण भिन्नं भिन्नमित्यर्थः ॥ २६७ ॥

ननु गुरुसंतानादेरेवमुपदेशो किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

तादात्म्यप्रतिपत्त्यै हि
स्वं संतानं समाश्रयेत् ॥२६८॥
भुञ्जीत पूजयेच्चक्रं
परसंतानिना नहि ।

'स्वं संतानम्' इति श्रीमदमरनाथादिक्रमेण यस्य यथा संभवेत् । 'परः' श्रीवरदेवादिः 'संतानो'ऽस्यास्तीति ॥ २६८ ॥

एतच्च अन्यत्र निषिद्धमित्याह

एतच्च मतशास्त्रेषु
निषिद्धं खण्डना यतः ॥२६९॥
अखण्डेऽपि परे तत्त्वे
भेदेनानेन जायते ।

'अनेन' इति समनन्तरोक्तेन हेयोपादेयरूपेण स्वपरसंतानादिनेत्यर्थः । नहि अखण्डे परे तत्त्वे काचन एवंविधा हेयोपादेयरूपा खण्डना युज्येत, —इत्याशयः ॥ २६९ ॥

एवमर्थमुखेन ग्रन्थं व्याख्याय समन्वयसग-त्यापि योजयति

एवं क्षेत्रप्रवेशादि
संतानानियमान्ततः ॥ २७० ॥
नास्मिन्विधीयते तद्धि
साक्षान्नौपयिकं शिवे ।

'एवं' पूर्वोक्तनीत्या 'क्षेत्रप्रवेशादि' गोत्र-शब्दोक्तसंताननियमान्तम् 'अस्मिन्' प्रस्तुते शास्त्रे 'न किंचिद्विधीयते' क्षेत्रादि प्रवेष्टव्य-मित्यादिविधिर्न क्रियते,—इत्यर्थः। यतस्तत् न शिवे साक्षादुपायः। एतच्च बहुशः प्राङ्निर्णी-तम्,—इति न पुनरायस्तम् ॥

ननु यदि नामात्र क्षेत्रप्रवेशादेर्न विधिः तर्हि तस्य निषेध एव पर्यवस्येत्? इत्याश-ङ्क्याह

न तस्य च निषेधो य-
न्न तत्तत्त्वस्य खण्डनम्॥२७१॥

'यत्' यस्मात्, 'तत्' क्षेत्रप्रवेशादि, वि-श्वात्मनः परस्य 'तत्त्वस्य न खण्डनं' तदपे-क्षया हि बहिः क्षेत्राद्येव नास्ति,—इति कुत्र प्रवेशाद्यपि भवेत्,—इति तद्विषयोऽयं विधि-र्निषेधो वा क्रियमाणो विकल्पमात्रवृत्तित्वात् नास्य स्वरूपखण्डनायालम्,—इति भावः ॥ २७१ ॥

अत आह

विश्वात्मनो हि नाथस्य
स्वस्मिन्रूपे विकल्पितौ ॥
विधिर्निषेधो वा शक्तौ
न स्वरूपस्य खण्डने ॥ २७२ ॥

अत एव चात्र सर्वमेव विहितं प्रतिषिद्धं

च,—इत्यर्थगर्भीकारात् नैकत्रैव ग्रहः कार्यः,—इति तात्पर्यार्थः ॥ २७२ ॥

ननु यद्येवं तत् परतत्त्वविविक्षायाम् 'इदमुपादेयमिदं हेयम्' इत्यवश्याश्रयणीयो विभागः कथं सिद्ध्येत्? इत्याशङ्क्याह

परतत्त्वप्रवेशे तु
यमेव निकटं यदा ।
उपायं वेत्ति स ग्राह्य-
स्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित्
॥ २७३ ॥

न यन्त्रणात्र कार्येति
प्रोक्तं श्रीत्रिकशासने ।

इह परं तत्त्वं प्रविविक्षुणा योगिना तत्र तावच्चेतः स्थिरीकार्यम्,—इति नास्ति विमातिः। तत्र पुनर्य एव यदा क्वचित् 'निकटो' हठपा-

पं० १ ख० पु० अवग्रह इति पाठः ।

कक्रमेण सहसैव परस्वरूपापत्तिनिमित्ततया संनिकृष्ट उपायः परिज्ञायते, स एव तदा ग्राह्योऽथवा अन्यथा त्याज्यो; न पुनर् इदमुपादेयमेव इदं त्याज्यमेव, — इत्येवमात्मा यन्त्रणा अत्र कार्या । तेन विषयासङ्गेऽपि कदाचित् परतत्त्वानुप्रवेशो भवेत् । क्वचिदित्यनेन च 'संनिकृष्टत्वमसंनिकृष्टत्वं च उपायानां न प्रतिनियतम्' इति प्रकाशितम् । अनेन च 'किंत्वेतत्' इत्यादिको ग्रन्थस्तात्पर्यतो व्याख्यातः । नन्वेवमपूर्वार्थकथने किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्योक्तम् 'इति प्रोक्तं श्रीत्रिकशासने' इति ॥ २७३ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

समता सर्वदेवाना-
मोवल्लीमन्त्रवर्णयोः ॥ २७४ ॥

---

पं० ९ क० ग० पु० ग्रन्थार्थ इति पाठः ।

पं० १४ क० पु० देवीनामिति पाठः ।

आगमानां गतीनां च
सर्वं शिवमयं यतः ।

'ओवल्यो' बोध्यादयः षट् ज्येष्ठादिभेद-भिन्ना ज्ञानसंततयः । 'गतीनां' भाववृत्तिद्रव्य-भूमिकादिरूपाणां प्रकाराणामित्यर्थः । अत्र हेतुः 'सर्वं शिवमयं यतः' इति । यदुक्तम्

'समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ॥
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च ।
समता सर्वदेवीनां वर्णानां चैव सर्वशः ॥'

इति ॥ २७४ ॥

ननु को नाम सर्वं शिवमयं जानाति, यस्यैवमुपदेशः प्ररोहमियात् ? इत्याशङ्क्याह

स ह्यखण्डितसद्भावं
शिवतत्त्वं प्रपश्यति ॥ २७५ ॥
यो ह्यखण्डितसद्भाव-
मात्मतत्त्वं प्रपद्यते ।

आत्मज्ञानमेव शिवतत्त्वसाक्षात्कारे निमित्तम्, — इत्यभिदधता नात्र दर्शनान्तरवत् व्यतिरिक्तोपायान्वेषणाद्यायाससाध्यत्वम्, — इत्यावेदितम् ॥ २७५ ॥

न च अत्र सर्व एव पात्रं, किं तु कश्चिदेव तीव्रतमशक्तिपातपवित्रितः, — इत्याह

केतकीकुसुमसौरभे भृशं
भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका ।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने
कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ॥२७६

नन्वत्रासक्त्या किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं
कुर्वतां भवडम्बरः ।
हिमानीव महाग्रीष्मे
स्वयमेव विलीयते ॥ २७७ ॥

अत्र च सामान्येनोपक्रान्तमधिकारिणमुप-संहारभङ्ग्या विशेषेण निर्देष्टुमाह

अलं वातिप्रसङ्गेन
भूयसातिप्रपञ्चिते ।
योग्योऽभिनवगुप्तोऽस्मि-
न्कोऽपि यागविधौ बुधः॥२७८॥

अथ वा याज्ययाजकादावेवं बहुशाखम् 'अतिप्रपञ्चिते' पौनःपुन्यपरीक्षणलक्षणेन 'अतिप्रसङ्गेनालम्'; यतो'ऽस्मिन्' समनन्तरोक्तस्वरूपे 'यागविधौ' अभितो ग्राह्यग्राहकाद्यनन्तभेदसंभिन्ने जडाजडवर्गे, यो 'नवः' अनवच्छिन्नज्ञत्वकर्तृत्वात्मकगुणपरामर्शनरूपः स्वात्मस्तवः, तेन 'गुप्तो' मायाव्यामोहमुषितत्वेऽपि परिरक्षितसार्वात्म्यमयनिजवैभवः, अत एव च 'कोऽपि' अलौकिकः; अथ च एवंविधोऽयमेव ग्रन्थकारोऽत्र योग्य इत्यर्थः ॥२७८॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्यनुत्तरपदप्रविकासे
शाक्तमौपयिकमद्य विविक्तम् ॥

'अद्य' इत्यनेन आह्निकशब्दार्थस्तात्त्विकः,—
इति प्रकाशितम्, इति शिवम् ॥

---

शाक्तसमावेशवश-
प्रोन्मीलितसद्विकल्पविभवेन ।
निरणायि जयरथेन
प्रस्फुटमिदमाह्निकं तुर्यम् ॥

---

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमद-
भिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके

श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते शाक्तोपाय-
प्रकाशनं नाम चतुर्थमाह्निकं समाप्तम् ॥ ४ ॥

---

श्रीमत्प्रतापभूभर्तुराज्ञया प्रीतये सताम् ।
मधुसूदनकौलेन संपाद्यायं प्रकाशितः ॥

---

श्रीमत्स्वात्मशिवार्पणं भोभवीतु ।

अथ

# श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेते

## पञ्चममाह्निकम्

यो नाम घोरनिनदोच्चारवशाद्भीषयत्यशेषजगत् ।
स्वस्थानध्यानरतः स जयत्यपराजितो रुद्रः ॥ १ ॥

इदानीं प्राप्तावसरमाणवोपायमपरार्धेन नि-
रूपयितुमुपक्रमते

आणवेन विधिना परधाम
प्रेप्सतामथ निरूप्यत एतत् ॥ १ ॥

'विधिना' इत्युच्चारादिरूपेण । 'एतत्'
इति वक्ष्यमाणमाणवोपायलक्षणम् ॥ १ ॥

ननु शाक्तोपायेनैव सर्वं सिद्ध्येदिति किमर्थम् एतन्निरूप्यते? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्याह

विकल्पस्यैव संस्कारे
　　जाते निष्प्रतियोगिनि।
अभीष्टे वस्तुनि प्राप्ति-
　　र्निश्चिता भोगमोक्षयोः ॥ २ ॥

विरुद्धविकल्पान्तरोदयाभावात् 'विकल्पस्य' शाक्तोपायनिरूपितनीत्या 'जात' एव स्फुटतमविकल्पस्वरूपासादनात्मनि 'संस्कारे' भोगमोक्षयोर्मध्यादेकतरत्र 'अभीष्टे वस्तुनि निश्चिता' नियमवती 'प्राप्तिः' भवेत्, —इत्याह्निकान्तरम् इदमनारम्भणीयमेव, —इति तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

ननु यद्यप्येवं तथापि विकल्पस्य द्वयी गतिः, स हि कस्यचिदुपायान्तरनिरपेक्षतया स्वस्वातन्त्र्यादेव संस्कृतः स्यात्, कस्यचित्तु अन्यथा।

---

पं० ९ ख० पु० तमा-इति पाठः।

तत्र पूर्वः प्रकारः शाक्तोपाये निरूपितः; इतरः पुनराणवोपाये निरूपयिष्यते; — इति युक्त एवाह्निकान्तरारम्भः, तदाह

विकल्पः कस्यचित्स्वात्म-
स्वातन्त्र्यादेव सुस्थिरः ।
उपायान्तरसापेक्ष्य-
वियोगेनैव जायते ॥ ३ ॥
कस्यचित्तु विकल्पोऽसौ
स्वात्मसंस्करणं प्रति ।
उपायान्तरसापेक्ष-
स्तत्रोक्तः पूर्वको विधिः ॥ ४ ॥

'पूर्वको विधिरुक्त' इत्युपादानादपरो वक्ष्यते, — इत्यर्थसिद्धम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

ननु विकल्पोऽपि अर्थावभासरूपत्वात् निर्विकल्पवच्चिदात्मैवेति को नाम तत्र संस्कारः ।

पं० २ ख० पु० एवैतदिति पाठः ।
पं० ११ क० पु० तत्प्रोक्त इति पाठः ।

संस्कारो हि अतिशयः, स च न संविदि युज्यते,—इति कस्य नामोपायान्तरं प्रति सापेक्षत्वमनपेक्षत्वं च स्यात्?—इत्याशङ्क्याह

विकल्पो नाम चिन्मात्र-
स्वभावो यद्यपि स्थितः।
तथापि निश्चयात्मासा-
वणोः स्वातन्त्र्ययोजकः॥ ५॥

'यद्यप्येवं तथापि असौ विकल्पो' नायमघटो भवतीत्यन्यापोहेन घटोऽयमिति निश्चयात्मकत्वात् 'अणोः' संकुचितस्य प्रमातुः स्वातन्त्र्यं योजयति, विकल्प्यमानेऽर्थे तस्यैव स्वातन्त्र्योपपत्तेः। अत एव क्षेत्रज्ञव्यापारो विकल्पः,—इत्युक्तम्। तथाहि घटावभासेऽनवभातमपि घटविपर्ययं व्यवहारोपयोग्यतया स्वस्वातन्त्र्यादेव प्रमाता प्रतिपद्यते; अन्यथा हि मायापदे परस्परपरिहारप्रतीतिं विना ग्रह्यग्राहकभावा-

पं० ३ ख० पु० अनपेक्षित्वामिति पाठः।

द्यात्मा व्यवहार एव न सिद्ध्येत् । अतश्च चिदेकरूपत्वेऽपि विकल्पोऽन्यापोहरूपत्वात् भेदमयः, – इति तदपसारणाय स्वात्मनि संस्कारमपेक्षते, यदाधानायापि क्वचिदुपायमुखप्रेक्षित्वमस्य, – इति युक्तमुक्तं 'विकल्पोऽसौ स्वात्मसंस्करणं प्रति । उपायान्तरसापेक्ष' इति । संस्कारश्चास्य अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वापत्तिपर्यन्तं पारमार्थिकस्वात्मप्रत्ययरूपनिर्विकल्पकज्ञानात्मत्वासादनम् । यदुक्तं प्राक्

'ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥'
(तं० ४ अ० ६ श्लो०)

इति ॥ ५ ॥

तत्संस्काराधाने च वक्ष्यमाणनीत्या ध्यानादयो बहव उपायाः, – इति तद्भेदात् तस्याप्यनैक्यम्, – इत्याह

निश्चयो बहुधा चैष
तत्रोपायाश्च भेदिनः ।
अणुशब्देन ते चोक्ता
दूरान्तिकविभेदतः ॥ ६ ॥

बहुधात्वे हेतुः 'तत्रोपायाश्च भेदिन' इति। तद्भेदेऽपि हेतुः 'दूरान्तिकविभेदत' इति। केचिद्धि उपायाः संविदि संनिकृष्टाः, केचिच्च विप्रकृष्टाः। तथा च

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता।'

इति नीत्या बुद्ध्याद्यपेक्षया तत्र प्राणस्यान्तरङ्गत्वात् तद्गतमुच्चारादि संनिकृष्टं, तदपेक्षया च बुद्धिगं ध्यानादि विप्रकृष्टं, ततोऽपि देहगतं करणादि,—इति। एते चोपाया अत्रैव संभवन्ति न पुनः शाक्ते,—इति कुतोऽवगम्यते,—इत्याशङ्कयोक्तम् 'अणुशब्देन ते चोक्ता' इति। तेनाणुषु भेदिषूपायेषु भवः, इत्याणवः ॥ ६ ॥

ननु प्राणादयो जाड्यादपारमार्थिकाः, तत्कथं तद्गतमुच्चारादि पारमार्थिकस्वरूपलाभनिमित्तं स्यात्? – इत्याशङ्क्याह

तत्र बुद्धौ तथा प्राणे
देहे चापि प्रमातरि ।
अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन्
परमार्थः प्रकाशते ॥ ७ ॥

'प्रमातरि' इति बुद्ध्यादौ सर्वत्रैव योज्यम्। 'अपारमार्थिक' इति बुद्ध्यादेर्वस्तुतो वेद्यरूपत्वेऽपि तथा परिकल्पनात् ॥ ७ ॥

ननु यदेव प्रश्नितं तदेवोत्तरीकृतम्, – इति किमेतत्? इत्याशङ्क्याह

यतः प्रकाशाच्चिन्मात्रात्
प्राणाद्यव्यतिरेकवत् ।

एवं चिदव्यतिरेकात्प्राणादीनामपि पारमार्थिकत्वमेव, – इति भावः । यदभिप्रायेणैव

पं० २ क० पु० तद्गतमिति पदं नास्ति ।

'यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते ।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता ॥'
(अजडप्रमातृसिद्धौ २० श्लो०)

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

ननु प्राणादेर्नीलादेश्च चिदव्यतिरेकात् तुल्यमनेन पारमार्थिकत्वं, नास्त्यत्र काचिदस्माकं विमतिः; किंतु मायापदे प्राणादेर्जाड्येऽपि कथं चित्त्वं संगच्छते? इत्याशङ्क्याह

तस्यैव तु स्वतन्त्रत्वा-
द्द्विगुणं जडचिद्वपुः ॥ ८ ॥

तु-शब्दो हेतौ । यतस्तस्यैव चिदात्मनः प्रकाशस्य स्वातन्त्र्यात्, अर्थात् तत् प्राणादि जडचिद्रूपत्वात् 'द्विगुणं' जडत्वचित्त्वलक्षणगुणद्वययोगि, — इत्यर्थः । परमेश्वर एव हि मायीयसर्गचिकीर्षायां स्वस्वातन्त्र्येण बहिरवभासितभावराशिमध्यात् कांश्चिज्जडानपि प्राणादीन्

पं० २ क० संस्थितेति पाठः ।

स्वगताहन्तात्मककर्तृत्वाभिषेकेण ग्राहकीभाव-यति, कांश्चिदपि शब्दादीन् इदन्तापात्रतया चिद्रूपतातिक्रमेण ग्राह्यतामापादयति; तेन प्राणादीनां जाड्येऽपि परमेश्वरस्वातन्त्र्यादेव चित्त्वम्, — इति ॥ ८ ॥

न केवलमेतद्युक्तित एव सिद्धं यावदागमतोऽपि, — इत्याह

उक्तं त्रैशिरसे चैत-
　　द्देव्यै चन्द्रार्धमौलिना ।

तदेव पठति

जीवः शक्तिः शिवस्यैव
　　सर्वत्रैव स्थितापि सा ॥ ९ ॥
स्वरूपप्रत्यये रूढा
　　ज्ञानस्योन्मीलनात्परा ।

यद्यपि 'शिवस्यैव' चिन्मात्रात्मनः परस्य प्रकाशस्य संबन्धिनी 'परा' विश्वस्फाररूपा

'शक्तिः' 'सर्वत्र' जडे प्राणघटादाववस्थिता तद्रूपतया परिस्फुरिता तथापि 'सा' अर्थात् प्राणादिरूपाहन्तात्मककर्तृतारूपस्य 'ज्ञानस्यो-न्मीलनात्' स्वस्यात्मनो रूपस्य च नीलादेः 'अहमिदं जानामि' इत्येवंरूपः संकुचितप्रमातृव्यापारस्वभावो विकल्पात्मा यः 'प्रत्ययः' तत्र 'रूढा' प्ररोहं प्राप्ता सती 'जीवः' प्राण-बुद्ध्यादिप्रमातृरूपतया व्यपदिश्यते, — इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तथापि अत्र परमार्थप्रकाशनं कथम्? इत्याशङ्क्याह

तस्य चिद्रूपतां सत्यां
स्वातन्त्र्योल्लासकल्पनात् ॥१०॥
पश्यञ्जडात्मताभागं
तिरोधायाद्वयो भवेत् ।

---

पं० ३ क० ग० पु० कर्तृत्वज्ञानस्येति पाठः ।

'तस्य' जडस्य चिद्वपुषः प्राणादेर्जडरूपमेकं 'भागं तिरोधाय' तत्राहन्ताभिमानमभिभूय स्वातन्त्र्योल्लासनाद्धेतोश्चिद्रूपतामेव पारमार्थिकीं 'पश्यन्' अकृत्रिमपराहन्तास्पदत्वेनानुभवन् 'अद्वयो भवेत्' संविन्मात्ररूपतया परिस्फुरेत्,—इत्यर्थः। तदुक्तम्

> 'बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता।
> तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत् ॥'

इति। एवमत्र प्राणादेर्जाड्येऽपि चिद्रूपतैव परमार्थः,—इत्येषां पारमार्थिकस्वरूपलाभे निमित्तत्वम्,—इत्युक्तं स्यात् ॥ १० ॥

एतदेव पक्षान्तरेणाप्याह

**तत्र स्वातन्त्र्यदृष्ट्या वा**
**दर्पणे मुखबिम्बवत् ॥ ११ ॥**
**विशुद्धं निजचैतन्यं**
**निश्चिनोत्यतदात्मकम् ।**

---

पं० २ ख० पु० भावमिति पाठः।
पं० ७ क० ग० वा इति पाठः।

अथवा यथायं लोकः स्वमुखप्रतिबिम्बमागमापायित्वात् दर्पणातिरिक्तं निश्चिनोति, एवमसौ योगी 'तत्र' प्राणादौ स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् 'विशुद्धं' वेद्यताद्यकलङ्कितम्, अत एव

'नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहम्।'

(हरिमीडे स्तो० श्लो० ३६)

इत्याद्युक्तेः 'अतदात्मकम्' अप्राणादिरूपं ततोऽतिरिक्तं निजं स्वाभाविकमेव चिद्रूपत्वम्' इत्येवम् अस्य पारमार्थिकस्वरूपलाभो भवेत्,—इति ॥ ११ ॥

ननु यथा दर्पणादतिरेकेण प्रतिबिम्बस्य सत्ता नास्ति, एवं संविदतिरेकेणापि प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो विश्ववैचित्र्यस्यास्य,—इति प्राङ्निर्णीतं, तत् कथमिह अन्यथोच्यते? इत्याशङ्क्याह

---

पं० ४ ख० पु० वेद्यवेदकतेति पाठः।

बुद्धिप्राणादितो भिन्नं
चैतन्यं निश्चितं बलात् ॥१२॥
सत्यतस्तदभिन्नं स्या-
त्तस्यान्योन्यविभेदतः ।

बुद्ध्यादिभ्यो बलादनुपपन्नेन क्रमेण 'भिन्नम्' अतिरिक्तं 'निश्चितमपि चैतन्यं' वस्तुतस्तदनतिरिक्तमेव भवेत्; यतस्तस्य बुद्ध्यादेरेव परस्परमस्ति भेदः, प्रातिस्विकेन प्रतिनियतेन रूपेण चेत्यमानत्वात्; चैतन्यं पुनर्बुद्ध्याद्यनुस्यूतमेव भायात् अन्यथा हि बुद्ध्यादीनां चेत्यमानत्वमेव न स्यात् ॥ १२ ॥

नन्वेकमेव चैतन्यं कथमनन्तबुद्ध्यादिरूपाविभिन्नं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

विश्वरूपाविभेदित्वं
शुद्धत्वादेव जायते ॥ १३ ॥

पं० ८ क० ग० पु० प्रातिबिम्बिकेनेति पाठः ।

निष्ठितैकस्फुरन्मूर्ते-
मूर्त्यन्तराविरोधतः ।

इह खलु परप्रकाशात्मनश्चैतन्यस्य 'शुद्ध-त्वात्' प्रतिनियतस्वाकारकलङ्कितत्वेन अनव-भास्यत्वात् स्वप्रकाशत्वलक्षणात् नैर्मल्यातिश-यात् 'विश्वैः' निखिलैर्बुद्ध्यादिभिराकारैः 'अ-विभेदित्वं जायत एव' न न जायते,—इत्य-र्थः । एतदेव हि नामास्य शुद्धत्वं यत् दर्पणा-दिवत् तत्तदनेकाकारधारितया प्रस्फुरति,—इति । न च एवं विरोधः कश्चित्; यतो 'नि-ष्ठिता' देशकालादिसंकोचान्नैयत्येन प्राप्तप्रति-ष्ठाना, अत एव 'एका' सर्वतो व्यावृत्तत्वात् निःसहाया 'स्फुरन्ती' तथात्वेन भासमाना मूर्तिः' यस्य तस्य बुद्ध्यादेः 'मूर्त्यन्तरेण' प्राणादिसंबन्धिना 'विरोधो' मूर्तस्य मूर्त्य-न्तरानुप्रवेशायोगात् ॥ १३ ॥

---

पं० ११ क० पु० निष्क्रान्तेति पाठः ।

ननु

‘ वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम् ।
अन्तः स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥ ’

( ई० १ अ० ५ आ० १ का० )

इत्यादिनीत्या प्रमात्रैकात्म्येनावस्थितानामेव भावानां बहिरवभासनं भवेत्, – इति सर्वत्रैव उपपादितं, तत् बुद्ध्यादेरपि प्रमातुरन्तरवस्थितानामेव अर्थानां किं बहिरवभासनं भवेन्नवा ? इत्याशङ्क्याह

अन्तः संविदि सत्सर्वं
यद्यप्यपरथा धियि ॥ १४ ॥
प्राणे देहेऽथवा कस्मा-
त्संक्रामेत्केन वा कथम् ।
तथापि निर्विकल्पेऽस्मि-
न्विकल्पो नास्ति तं विना ॥ १५ ॥

पं० १३ क० पु० केन हेतुनेति पाठः ।

दृष्टेऽप्यदृष्टकल्पत्वं
विकल्पेन तु निश्चयः ।

'यद्यपि संविद्यन्तर्' ऐकात्म्येन 'सर्वम्' इदं भावजातं संभवेत्, अन्यथा बुद्ध्यादौ प्रमातरि सर्वमिदं 'कस्मात्' संविदतिरिक्तात्मकात् 'केन वा' स्वातन्त्र्यव्यतिरिक्तेन हेतुना 'कथं' केन वा अहन्तेदन्तादिपरामर्शातिरिक्तेन प्रकारेण 'संक्रामेत्' प्रतिबिम्बकल्पतयावभासेत, – इत्यर्थः । अन्यथा हि बुद्ध्यादेरपि तत्तदर्थावभासो न भवेत् – इति भावः । 'तथापि अस्मिन्' बुद्ध्यादौ प्रमातरि

'तस्यां निर्विकल्पकदशायामैश्वरो भावः पशोरपि ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या सर्वभावाविभेदावभासात्मनि 'निर्विकल्पे' ऽन्तस्तथात्वेन निश्चायको 'विक-

---

पं० ३ क० ग० संविदोऽन्तरिति पाठः ।

पं० ६ क० पु० कत्वात् इति पाठः ।

पं० ८ ख० पु० नयेति पाठः ।

ल्पो नास्ति' येन सर्वमेवेदम् अविभेदेनावभासमानं स्यात्; यतो

'दृष्टमपि अविमृष्टमदृष्टमेव ।'

इत्याद्युक्त्या विकल्पमन्तरेण 'दृष्टेऽपि अदृष्टकल्पत्वं' यथैव दृष्टं तथैव न प्ररूढम्, — इत्यर्थः। तु-शब्दो हेतौ; यतो 'विकल्पेनैव' इदमित्थमित्येवमात्मा 'निश्चयः' स्यात्। स च विकल्पः संकुचितस्य प्रमातुर्व्यापारः, — इत्यंशांशिकया भेदेनैव निश्चिनुयात्, न तु अभेदेन, — इति नास्ति बुद्ध्यादीनां सर्वभावाविभेदेनावभासः, — इति युक्तमुक्तं 'तस्यान्योन्यविभेदतः' इति ॥ १५ ॥

नन्वेवं बुद्ध्यादेरपारमार्थिकत्वेऽपि ध्यानादिद्वारेण यथा परमार्थप्रकाशने निमित्तत्वमुक्तं, तथा शून्यस्यापि कथं न? इत्याशङ्क्याह

पं० २ क० ग० पु० अवभासनमिति पाठः ।

बुद्धिप्राणशरीरेषु
पारमेश्वर्यमञ्जसा ॥ १६ ॥
विकल्प्यं शून्यरूपे न
प्रमातरि विकल्पनम् ।

इह खलु बुद्ध्यादौ प्रमातरि अहन्तास्पदत्वात् ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणं 'पारमेश्वर्यमञ्जसा विकल्प्यं' तत्तदवच्छेदमुखेन स्फुटं कृत्वा निश्चेयं, येन तद्गतं ध्यानादि पारमार्थिकस्वरूपलाभनिमित्तं स्यात्। 'शून्यरूपे' पुनः 'प्रमातरि' वस्तुतः संभवेऽपि पारमेश्वर[र्य]स्य नियतावच्छेदायोगात् तद्विकल्पयितुमेव न शक्यम्,—इति कथं नामास्य परमार्थप्रकाशने निमित्तत्वं भवेत्। एवं बुद्ध्यादीनां त्रयाणामेव अत्र निमित्तत्वम्,—इत्युक्तं स्यात् ॥ १६ ॥

नन्वेषां बुद्ध्यादीनां किं नाम तदस्ति, यद-

पं० २ क० पु० पारमैश्वर्यमिति पाठः ।
पं० ६ क० पु० पारमैश्वर्यमिति पाठः ।

वलम्बनेनापि पारमार्थिकस्वरूपलाभो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

बुद्धिर्ध्यानमयी तत्र
प्राण उच्चारणात्मकः ॥ १७ ॥

'ध्यानमयी' इति अनुसंधानप्राधान्यात्॥१७

उच्चारणं लक्षयति

उच्चारणं च प्राणाद्या
व्यानान्ताः पञ्च वृत्तयः ।

पञ्चेति । यदुक्तम्

'प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।'

इति ॥

ननु द्विधा प्राणीया वृत्तिरस्ति—यदेका पञ्चानामपि प्राणादीनां भित्तिभूता सामान्यप्राणीया, अपरा च विशिष्टप्राणात्मिका,—इति; तत् पञ्च वृत्तय उच्चारणम्,—इति कथमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

आद्या तु प्राणनाभिख्या-
परोच्चारात्मिका भवेत् ॥ १८ ॥

'प्राणनाभिख्या' इत्यान्तरोद्योगरूपा जीवनापरपर्याया प्राणनामात्रस्वभावा, — इत्यर्थः। यद्वक्ष्यति

'इयं सा प्राणना शक्तिरान्तरोद्योगदोहदा।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मतिः॥
सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यै रूपैः पञ्चभिरात्मसात्।
देहं यत्कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैष भासते ॥'

(६ आ० १२ श्लो०)

इति। तदत्र विशिष्टा एव प्राणादिवृत्तयो विवक्षिताः, — इति युक्तमुक्तं — पञ्च वृत्तय उच्चारणम् — इति। एतत्स्वरूपं च पुरस्ताद्भविष्यति, — इति नेहायस्तम् ॥ १८ ॥

एवं बुद्धिप्राणयोरसाधारणं रूपमभिधाय शारीरस्याप्यभिधत्ते

---

पं० ३ क० ग० पु० जीवापरेति, प्राणमात्रेति पाठः।

शरीरस्याक्षविषयै-
तत्पिण्डत्वेन संस्थितिः ।

'अक्षाणि' इन्द्रियाणि 'विषयाः' कार्याणि 'एते' प्राणादयः तेषां 'पिण्डत्वेन' एकीभावेन 'संस्थितिः' नाम देहप्रमातुरसाधारणं रूपम्,—इत्यर्थः ॥

इदानीमधिकारिनिरूपणानन्तरं ध्यानादेः स्वरूपं वक्तुमुपक्रमते

तत्र ध्यानमयं ताव-
दनुत्तरमिहोच्यते ॥१९॥

तदेवं बहूपायसाध्यत्वेऽपि 'ध्यानं' प्रकृतं मूलकारणं यस्यैवंविधम् 'अनुत्तरं' पारमार्थिकं रूपम् 'इह उच्यते' सांप्रतं प्राप्तावसरमभिधीयते,—इत्यर्थः । अत एव तावच्छब्दः क्रमद्योतकः, अनुजोद्देशो हि बुद्धिध्यानमित्याद्युपक्रमः ॥ १९ ॥

तदाह

य: प्रकाश: स्वतन्त्रोऽयं
चित्स्वभावो हृदि स्थितः ।
सर्वतत्त्वमयः प्रोक्त-
मेतच्च त्रिशिरोमते ॥ २० ॥

'योऽयं चित्स्वभावो' ऽर्कादिप्रकाशविलक्षणोऽत एव स्वप्रकाशत्वात् 'स्वतन्त्रो' ऽत एव च 'सर्वतत्त्वमयः' तत्तद्रूपतया परिस्फुरन् 'प्रकाशो हृदि' स्वपरामर्शे

'साक्षं सर्वमिदं देहं यद्यपि व्याप्य संस्थितः ।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम् ॥'

इत्यादिनीत्या हृदयेऽवस्थितः, तत्रैव तत्त्वविदां साक्षात्कार्यः, — इत्यर्थः । नन्वत्र किं प्रमाणम्, — इत्युक्तम् 'एतच्च त्रिशिरोमते प्रोक्तम्' इति ॥ २० ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

कदलीसंपुटाकारं
सबाह्याभ्यन्तरान्तरम् ।
ईक्षते हृदयान्तःस्थं
तत्पुष्पमिव तत्त्ववित् ॥ २१॥

इह खलु आत्मज्ञः 'तत्' स्वतन्त्रप्रकाशात्म परं ब्रह्म आनन्दातिशयदायितया परमोपादेयत्वेन 'पुष्पमिव'

'……………………………हृदि ध्येयो मनीषिणाम् ।'

इत्याद्युक्त्या 'हृदयान्तःस्थमीक्षते' साक्षात्कुर्यात्,—इत्यर्थः । यतस्तत् 'कदल्या' योऽसौ 'संपुटः' परस्परमन्तर्बहीरूपतया मिलितानां दलानां संनिवेशः, तद्वदोतप्रोतत्वेनावस्थितैर्भूततन्मात्रेन्द्रियादिभिस्तत्त्वैः संवलित 'आकारो' यस्य तत्; अत एव 'बाह्यं' साधारणं तत्त्वजातम् 'आभ्यन्तरम्' असाधारणं तयोः साकल्यं 'सबाह्याभ्यन्तरं' तस्य 'आन्तरं'

पं० ४ क० पु० तत्त्वतः इति पाठः ।

परप्रमात्रेकरूपम्,—इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—यथा कश्चित् कदल्या बाह्यं बाह्यं निःसारं दलमपास्य, शनैः शनैरान्तरमान्तरमाददानः पर्यन्ते परमोपादेयं पुष्पमादत्ते, तथैव तत्त्वविद्वाह्यं बाह्यं शारीरं तत्त्वजातं परित्यज्य, हृदयान्तः परिस्फुरन्तं स्वात्मानं साक्षात्कुर्यात्,—इत्यर्थः ॥ २१ ॥

नन्वात्मनः सर्वदेहव्यापकत्वेऽपि कथं हृदय एव साक्षात्कारो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

सोमसूर्याग्निसंघट्टं
तत्र ध्यायेदनन्यधीः ।

यतः 'तत्र' हृदये सावधानो योगी प्राणापानोदानात्मनां 'सोमसूर्याग्नीनां संघट्टं ध्यायेत्' कुम्भकवृत्त्योन्मीलनामनुसंदध्यात्,—इत्यर्थः॥

ननु तत्रैवमनुध्यायतः किं फलम्? इत्याशङ्क्याह

तद्ध्यानारणिसंक्षोभा-
न्महाभैरवहव्यभुक् ॥ २२ ॥
हृदयाख्ये महाकुण्डे
जाज्वलन् स्फीततां व्रजेत् ।

'तत्' समनन्तरोक्तं सोमसूर्याग्निसंघट्टात्म यत् 'ध्यानं' तदेव 'अरणिः' तस्याः सम्यक् प्राणापानगतित्रोटनेन निर्विकल्पतया मध्यधामानुप्रवेशात्मा यः 'क्षोभः' ततो हेतोः हृत्कुण्डे पारिमित्यतिरस्कारेणात्यर्थं ज्वलन् महाभैरवाग्निः 'स्फीततां व्रजेत्' पूर्णप्रमातृरूपतया स्वात्मसाक्षात्कारो भवेदित्यर्थः । तदुक्तम्

'न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपधृत् ॥'
(विज्ञा० २६ श्लो०)

इति ॥ २२ ॥

नन्वेतावतैव कथमेवं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

तस्य शक्तिमतः स्फीत-
शक्तेर्भैरवतेजसः ॥ २३ ॥
मातृमानप्रमेयाख्यं
धामाभेदेन भावयेत् ।

यतः 'तस्य' स्वातन्त्र्यशालिनो भैरवात्मनः परस्य प्रकाशस्य मितप्रमात्रादिधामत्रयम् 'अभेदेन भावयेत्' तत्साद्भूतमनुसंदध्यात् । येन पारिमित्यतिरस्कारेण परप्रमात्रैकात्म्यमुदियात् ॥ २३ ॥

ननु सोमसूर्याग्निसंघट्टात्म ध्यानं परप्रमातृतापत्तौ निमित्तम्,– इत्युक्तं तत्कथमिदानीमेव तदभेदेन मितमात्रादेर्भावनमप्युच्यते, – इत्याशङ्क्याह

वह्न्यर्कसोमशक्तीनां
तदेव त्रितयं भवेत् ॥ २४ ॥

पं० १० ख० पु० ननु पूर्वत्रेति पाठः ।

'तत्' प्रमात्रादि त्रितयं वह्न्यादिशक्तीनामेव संबन्धि तद्रूपमेवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

न केवलमेतत् वह्न्यादिशक्तिरूपमेव यावत् परादिरूपमपि, — इत्याह

परा परापरा चेय-
मपरा च सदोदिता ।

'सदा' सृष्टिस्थितिसंहाराख्यदशासु 'उदिता' इति प्रत्येकमभिसंबन्धः ॥

अत आह

सृष्टिसंस्थितिसंहारै-
स्तासां प्रत्येकतस्त्रिधा ॥ २५ ॥

ननु आसां सदोदितत्वादनाख्यदशायामपि उदयः संभवेत्, — इति कथं सृष्ट्यादिरूपतया प्रत्येकं त्रित्वमेवोक्तम्? इत्याशङ्क्याह

---

पं० ७ क० पु० संहारानाख्येति पाठः ।

चतुर्थं चानवच्छिन्नं
रूपमासामकल्पितम् ।

'अनवच्छिन्नं' सृष्ट्याद्यवच्छेदशून्यम्, अत एव 'अकल्पितं' तात्त्विकमित्यर्थः ॥

एतदेव संकलयति

एवं द्वादश ता देव्यः
सूर्यबिम्बवदास्थिताः ॥ २६ ॥
एकैकमासां वह्न्यर्क-
सोमतच्छान्तिभासनम् ।

'ताः' पराद्याः । अत्रैव हृदयङ्गमीकरणाय पुनः 'एकैकम्' इत्यादिः हेतुः । एतच्च अनन्तराह्निक एव वितत्य निर्णीतम्, —इति न पुनरिहायस्तम् ॥ २६ ॥

सर्वस्य चैतदनुभवसिद्धं न तु अपूर्वं किंचित्, —इति दर्शयितुमाह

एतदानुत्तरं चक्रं
हृदयाच्चक्षुरादिभिः ॥ २७ ॥
व्योमभिर्निःसरत्येव
तत्तद्विषयगोचरे ।

'एतत्' समनन्तरोक्तं द्वादशात्मकम् 'आनुत्तरं चक्रं हृदयात्' तत्स्थात्परमेश्वररूपात् आत्मनश्चक्षुरादीन्द्रियव्योमवर्त्मना तत्तद्रूपादिविषयस्वीकारनिमित्तं तत्तद्वृत्तिरूपतया 'निःसरत्येव,' नतु न कदाचिन्निःसरतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति – यन्नाम प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य वा स्वरसत एव चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिद्वादशकं रूपाद्यर्थालोचनाय प्रसरद्वर्तते, तदेव इदमानुत्तरं चक्रम्,– इति, किंतु अप्रबुद्धस्य तथात्वेनापरिज्ञायमानत्वात् बन्धकं, प्रबुद्धस्य तु मोचकम्,– इति विशेषः । यथोक्तम्

पं० १० ख० पु० इदमुक्तमिति पाठः ।

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥'
(स्प० ४।१८)

इति । तथा

'येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥'

इति ॥ २७ ॥

न केवलमेतत् अत्रैव यावदर्थेऽपि,—इत्याह

तच्चक्रभाभिस्तत्रार्थे
सृष्टिस्थितिलयक्रमात् ॥ २८ ॥
सोमसूर्याग्निभासात्म
रूपं समवतिष्ठते ।

'तस्य' समनन्तरोक्तस्य दृगादिदेवीद्वादशकात्मनः 'चक्रस्य' तत्तद्वृत्तिरूपाभिः 'भाभिः, तत्रार्थे' तत्र तत्र विषये सृष्टिस्थितिसंहाराख्यरूपतामवलम्ब्य सोमाद्यात्ममेयमानमातृस्फा-

रलक्षणं 'रूपं' सम्यक् स्वस्वरूपाविभेदेन 'अवतिष्ठते' किंचित्संकुचत्तया बहिर्मुखत्वेन प्रस्फुरतीत्यर्थः । प्रमाता हि प्रथममवभास्यमानतया अर्थं सृजति, तदनु तत्रैव प्रशान्तनिमेषं कंचित्कालमनुरज्यन् परिस्थापयति, पश्चात् 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इति संतोषाभिमानात् स्वात्मनि विमृशन्नुपसंहरति, अनन्तरं हठपाकक्रमेण अलंग्रासयुक्त्या पूर्णत्वापादनेन चिदग्निसाद्भावमापादयति,—इति अर्थोऽपि दृगादिदेवीवच्चातूरूप्यमश्नुवानः सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् तत्तादात्म्यमेवोपलभते इति ॥ २८ ॥

अतश्च यत्र क्वापि एतच्चक्षुरादिमरीचिचक्रं निपतेत्, तत्रैतद्रूपतामेव विमृशेत् येन स्वात्मध्यानं सिद्ध्येत्, तदाह

एवं शब्दादिविषये
　　श्रोत्रादिव्योमवर्त्मना ॥ २९ ॥

---

पं० २ क० ग० पु० संकुचिततयेति पाठः ।

चक्रेणानेन पतता
तादात्म्यं परिभावयेत् ।

ननु शब्दादि श्रोत्रादिनियतवृत्तिवेदनीयम्,—इति कथमेकैकत्र तत्र निखिलमेव श्रोत्रादिवृत्तिचक्रं निपतेत्,—इति किमेतदुक्तम् ? इत्यशङ्क्याह

अनेन क्रमयोगेन
यत्र यत्र पतत्यदः ॥ ३० ॥
चक्रं सर्वात्मकं तत्त-
त्सार्वभौममहीशवत् ।

तत्तदेतत् 'चक्रं'

'समुदायवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते ।'

इति नीत्या श्रोत्रादिलक्षणमेकैकं चक्रावयवं 'यत्र यत्र' शब्दादौ विषये 'पतति' अर्थात् तत्र तत्र 'अनेन' समनन्तरोक्तेन सृष्ट्यादि-

पं० २ क० ग० पु० ताद्रूप्यमिति पाठः ।

क्रमसम्बन्धेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् चक्रात्मकम् अशेषवृत्त्यन्तरापूरणेन स्वस्वविषयोपभोगं करोतीत्यर्थः। अत्रैव दृष्टान्तः 'सार्वभौममहीशवत्' इति। यथा सार्वभौमो राजा यत्र कुत्रचन परराष्ट्रे निपतति तत्रास्य राजान्तराणि साहायकार्थमवश्यमनुपतन्ति; एवमेकैकापि चिद्वृत्तिर्यत्र क्वाप्यर्थे प्रसरति तत्रैव वृत्त्यन्तराण्यपि अनुधावन्तीति। यदुक्तम्

'एकैकापि च चिद्वृत्तिर्यत्र प्रसरति क्षणात्।
सर्वास्तत्रैव धावन्ति ताः पुर्यष्टकदेवताः॥'

इति॥ ३०॥

नन्वेवं सर्वस्य सर्वात्मकत्वोपदेशेन किम्? इत्याशङ्क्याह

इत्थं विश्वाध्वपटल-
मयत्नेनैव लीयते॥ ३१॥

भैरवीयमहाचक्रे
संवित्तिपरिवारिते ।

'इत्थम्' उक्तेन प्रकारेण ध्यायतश्चक्षुरादि-संवित्तिदेवीचक्रपरिवार्यमाणे 'भैरवीये' परप्र-मात्रात्मनि चक्रेश्वरे 'विश्वं' षड्विधम् 'अध्वपट-लम् अयत्नेनैव लीयते' तत्साद्भवतीत्यर्थः। एकै-कशो हि भावानामानन्त्यात् युगसहस्रैरपि सं-विदि विलयनं न सिद्ध्येत्,– इति सर्वस्य सर्वा-त्मकत्वात् एकस्मिन्नेव भावे संविदि लीने विश्वमेवाक्रमेण सुखोपायं लीनं स्यात्,– इत्य-यत्नशब्दार्थः ॥ ३१ ॥

नन्वेवमपि किम् ? इत्याशङ्क्याह

ततः संस्कारमात्रेण
विश्वस्यापि परिक्षये ॥ ३२ ॥
स्वात्मोच्छलत्तया भ्राम्य-
च्चक्रं संचिन्तयेन्महत् ।

'ततो'ऽनन्तरं 'संस्कारमात्रेणापि' अवस्थितस्य 'विश्वस्य' परितः समन्तात् बहीरूपतया 'क्षये' जाते सति व्यतिरिक्तवस्तुग्रासीकारात् 'स्वात्मोच्छलत्तया' स्वात्मनैव [उल्लसत्तया] 'महत्' कृत्वा 'भ्राम्यत्' सर्वतः प्रविजृम्भमाणं चक्षुरादीन्द्रियसंवित्तिरूपं 'चक्रं' सम्यक् विश्वक्रोडीकारेण चिन्तयेदित्यर्थः ३२

ननु संनिहितेऽपि बाह्येऽर्थजाते चक्षुरादीन्द्रियवृत्त्यात्म संविच्चक्रमुदियात्,– इत्यविवादः। तदेव चेत् परिक्षीणं तत् कथमेतत् चक्रमपि स्वात्मन्युल्लसेत्,– इति किमेतदुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

ततस्तद्वाह्यविलयात्
तत्संस्कारपरिक्षयात् ॥ ३३ ॥
प्रशाम्यद्भावयेच्चक्रं
ततः शान्तं ततः शमम्।

पं० ५ क० ग० पु० एवमहन्त्वैक्यादिति पाठः।

'ततः' तस्मात् समनन्तरोक्तात् 'दाह्यस्य' बाह्यस्यार्थजातस्य संक्षयात् हेतोः तच्चक्रं प्रशाम्यदवस्थं ध्यायेत्; ततोऽनन्तरं 'तत्संस्कारस्यापि परिक्षयात् शान्तं' यावदन्ते 'शमं' तच्चक्रप्रशान्त्या शुद्धमेव संविन्मात्रमनुसंदध्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतदेव संकलयति

अनेन ध्यानयोगेन
विश्वं चक्रे विलीयते ॥ ३४ ॥
तत्संविदि ततः संवि-
द्विलीनार्थैव भासते ।

ननु यद्येवं विलीनार्था संविदेवावभासते तत् विद्युदुद्योतन्यायेन प्रमातृप्रमेयात्म विश्वं भायात्,—इति सर्वदैव प्रलयोदयः स्यात्? इत्याशङ्क्याह

चित्स्वाभाव्यात् ततो भूयः
सृष्टिर्यच्चिन्महेश्वरी ॥ ३५ ॥

ननु चितः को नाम अयमेवंविधः स्वभावो येनास्या भूयोऽपि सृष्टयादौ कर्तृत्वम्,—इत्याशङ्कयोक्तं 'यच्चिन्महेश्वरीति' ॥ ३५ ॥

नन्वेवं विश्वस्य प्रलयोदयचिन्तनेन ध्यायतः कोऽर्थ ? इत्याशङ्कयाह

एवं प्रतिक्षणं विश्वं
स्वसंविदि विलापयन् ।
विसृजंश्च ततो भूयः
शश्वद्भैरवतां व्रजेत् ॥ ३६ ॥

न केवलमेतदेव चक्रं योगिना ध्येयं यावच्चक्रान्तराण्यपि,—इत्याह

एवं त्रिशूलात् प्रभृति
चतुष्पञ्चारकक्रमात् ।

पञ्चाशदरपर्यन्तं
चक्रं योगी विभावयेत् ॥ ३७ ॥
चतुष्षष्टिशतारं वा
सहस्रारमथापि वा ।
असंख्यारसहस्रं वा
चक्रं ध्यायेदनन्यधीः ॥ ३८ ॥

एतच्च पुरस्तादेव गतार्थम्,—इति न पुनरिहायस्तम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

नन्वसंख्यारत्वे किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

संविन्नाथस्य महतो
देवस्योल्लासिसंविदः ।
नैवास्ति काचित्कलना
विश्वशक्तेर्महेशितुः ॥ ३९ ॥

नन्वत्र किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

---

पं० १ क० पु० पञ्चदशारेति पाठः ।
पं० ५ क० पु० असंख्यातेति पाठः ।

शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं
शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।
इति माङ्गलशास्त्रे तु
श्रीश्रीकण्ठो न्यरूपयत् ॥४०॥

यदुक्तं तत्र

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयश्च जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥'

इति ॥ ४० ॥

न चैतत् स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तम्,—इत्याह

इत्येतत् प्रथमोपाय-
रूपं ध्यानं न्यरूपयत् ।
श्रीशंभुनाथो मे तुष्ट-
स्तस्मै श्रीसुमतिप्रभुः ॥ ४१ ॥

एतदेव अन्यत्राप्यतिदिशति

पं० ७ क० पु० कृत्स्नमिति पाठः ।

अनयैव दिशान्यानि
ध्यानान्यपि समाश्रयेत् ।
अनुत्तरोपायधुरां
यान्यायान्ति क्रमं विना ॥४२॥

'अन्यानि' इति शास्त्रान्तरोक्ततत्तच्चक्ररूपाणि ॥ ४२ ॥

एवं ध्यानस्वरूपं निरूप्य तदनन्तरोद्दिष्टं प्राणतत्त्वसमुच्चारं वक्तुमुपक्रमते

अथ प्राणस्य या वृत्तिः
प्राणनाद्या निरूपिता ।
तदुपायतया ब्रूमोऽ-
नुत्तरप्रविकासनम् ॥ ४३ ॥

तदेवाह

निजानन्दे प्रमात्रंश-
मात्रे हृदि पुरा स्थितः ।

शून्यतामात्रविश्रान्ते-
निरानन्दं विभावयेत् ॥ ४४ ॥
प्राणोदये प्रमेये तु
परानन्दं विभावयेत् ।
तत्रानन्तप्रमेयांश-
पूरणापाननिर्वृतः ॥ ४५ ॥
परानन्दगतस्तिष्ठे-
दपानशशिशोभितः ।
ततोऽनन्तस्फुरन्मेय-
संघट्टैकान्तनिर्वृतः ॥ ४६ ॥
समानभूमिमागत्य
ब्रह्मानन्दमयो भवेत् ।
ततोऽपि मानमेयौघ-
कलनाग्रासतत्परः ॥ ४७ ॥
उदानवह्नौ विश्रान्तो
महानन्दं विभावयत् ।

पं० ९ ख० पु० तदनन्तेति पाठः ।

इह खलु योगी 'पुरा' प्रथमं

'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ॥'
(स्व० ४।२९१)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपे संविदेकात्मनि 'शून्यतामात्रे' विश्रान्तिमाश्रित्य प्राणाद्युदयविश्रामधामनि 'हृदि' विषये 'निजो' निरुपाधित्वात् स्वभावभूत 'आनन्दो' यस्यैवंविधे प्रमेयाद्यंशान्तरापेक्षया 'प्रमात्रंशमात्रे स्थितः' स्वात्मानमेव केवलतया साक्षात्कुर्वन्नवस्थितः सन्, अनन्तरं

'प्राक्संवित् प्राणे परिणता ।'

इति नीत्या प्रमाणात्मनः 'प्राणस्य' हृदयात् द्वादशान्तं रेचकक्रमेण 'उदये' कथंचिद्बहिरौन्मुख्यात् 'निरानन्दं' निजात्प्रमातृसंमतादानन्दात् निष्क्रान्तं दशाविशेषं 'विभावयेत्' लक्षयेदित्यर्थः । अपानात्मनि 'प्रमेये' पुनरुदयति 'परेण' प्रमेयेण कृतम् 'आनन्दं विभावयेत्'; यतः 'तत्र' तस्यां प्रमेयोदयदशा-

याम् असौ परानन्दनिष्ठस्तिष्ठेत्; यतो 'ऽनन्ता' ये प्रमात्राद्यपेक्षया प्रमेयलक्षणा 'अंशाः' तत्कर्तृका येयं 'पूरणा' तत्तदर्थग्रहणेन नैराकाङ्क्ष्यं सैव 'पानं' पीतिः तेन 'निर्वृतः' स्वात्ममात्रविश्रान्तो, यस्मात् 'अपान' एवाप्यायकारितया 'शशी' तेन 'शोभितः' पूरकक्रमेण द्वादशान्ताद्धृदयं यावत् तद्दशामधिशयान इत्यर्थः। ततोऽपि हृदये कुम्भकवृत्त्या क्षणं विश्रम्य तेषां समनन्तरोक्तानां नीलसुखादिरूपतया 'अनन्तानां' प्रतिभासमानानां 'मेयानाम्' अन्योन्यमेलनात्मा योऽसौ 'संघट्टः' तेन 'एकान्तेन' अव्यभिचारेण 'निर्वृतः' सन्, सममेव समग्रमेयस्वीकारात् समानभूमिमासाद्य मेयेन संभूय कृतत्वाद्बृंहितेन ब्रह्मरूपो योऽसावानन्दः, तन्मयो भवेत्, परानन्ददशातोऽपि विशिष्टामानन्ददशामनुभवेदित्यर्थः। तदनन्तरमपि 'मानमेययोः' सूर्यसोमात्मनोः प्राणापानयोर्य 'ओघः' प्रवाहस्तस्य याः

'षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः ।'
(वि० भै० १५६ श्लो०)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपाः 'कलनाः' तासां 'ग्रासतत्परः' तद्धट्टनपरायणो योगी मध्यमार्गेणोर्ध्वगामिनि 'उदानवह्नौ' उत्कर्षकक्रमेण परिहृतप्राणाद्यवान्तरक्षोभतया 'विश्रान्तो महान्तं' प्रमाणादिदशाधिशायिनिरानन्दादिवैलक्षण्यादुत्कृष्टं प्रमातृसंमतम् 'आनन्दं विभावयेत्' स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपतया विमृशेदित्यर्थः॥ ४७ ॥

नन्वेवं परामर्शेनास्य किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

तत्र विश्रान्तिमभ्येत्य
शाम्यत्यस्मिन्महार्चिषि ॥४८॥

'तत्र' महानन्दे विश्रान्तिमागत्य 'अस्मिन्

पं० १ क० पु० शतानि दिवारात्रौ इति पाठः ।
पं० ६ ख० पु० प्राणापानादीति पाठः ।

महार्चिषि ’ प्रमात्रात्मन्युदानवह्नौ ‘ शाम्यति ’ तदेकसाद्भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

ननु तत्र का नामास्य शान्तिरुच्यत ? इत्याशङ्क्याह

निरुपाधिर्महाव्याप्ति-
　　र्व्यानाख्योपाधिवर्जिता ।
तदा खलु चिदानन्दो
　　यो जडानुपबृंहितः ॥ ४९ ॥

सा च शान्तिः ‘निरुपाधिः’ निष्क्रान्ता भेदेन स्फुरिता मातृमानमेयात्मान ‘उपाधयो’ यस्याः सा तथा, अत एव कलादिक्षित्यन्तं व्याप्यावस्थानात् ‘ महाव्याप्तिः ’ अत एव सर्वत्र व्यापकतयाननात् ‘ व्यानाख्या ’ व्यानदशामधिशयानेत्यर्थः । एवं सर्वमयत्वेऽपि सर्वोत्तीर्णेत्युक्तम् ‘ उपाधिवर्जिता ’ इति । अत एव ‘ तदा ’ तस्यां दशायां चिद्रूप एवानन्दः । नहि

तदानीं मेयाद्यात्मनामचिताम् अवकाशोऽस्ती-
त्युक्तं 'यो जडानुपबृंहित' इति ॥ ४९ ॥

अत्रैव हेतूपन्यासः

नह्यत्र संस्थितिः कापि
विभक्ता जडरूपिणः ।

'विभक्ता' इति अविभागेन पुनरेषामस्त्येव
सद्भावः,—इति भावः । यदुक्तम्

'स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु ।'
( ई० प्र० २।१।७ )

इति ॥

ननु निरुपाधित्वादनवच्छिन्नं प्रमात्रात्म परं-
तत्त्वम्,—इत्युक्तं तत् कथमत्र अविभागेनापि
व्यवच्छेदका भावाः संस्युः? इत्याशङ्क्याह

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो
नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत् ॥५०॥

यदनाहतसंवित्ति
परमामृतबृंहितम् ।
यत्रास्ति भावनादीनां
न मुख्या कापि संगतिः ॥५१॥
तदेव जगदानन्द-
मस्मभ्यं शंभुरूचिवान् ।

'यत्र न कोऽपि' न कश्चिदपि 'व्यवच्छेदोऽस्ति'; यत एतत् 'विश्वतः' सर्वेण रूपेण 'स्फुरत्,' नहि एतदतिरिक्तमन्यत् किंचित् संभवेत्; यतोऽस्य व्यवच्छेदोऽपि भवेदिति भावः। अत एव 'यत्, अनाहता' प्रमातृप्रमेयाद्यात्मना सर्वतः प्रस्फुरन्ती 'संवित्तिः' यस्य तत्, अत एव स्वातन्त्र्यलक्षणेन 'परमेणामृतेन बृंहितं' पूर्णमनन्यापेक्षम्,—इति यावत् । अत एव प्रतिनियतरूपत्वाभावात् 'यत्र भावनादीनां न मुख्या' काचित् 'संगतिः' साक्षादुपायता नास्तीत्यर्थः । यदुक्तम्

'तेनावधानप्राणस्य भावनादेः परे पथि ।
भैरवीये कथंकारं भवेत् साक्षादुपायता ॥'

(त० २।१३)

तदेतत् प्रमात्रात्म चिदेकरूपं परं तत्त्वं जगता निजानन्दाद्यात्मना विश्वेन रूपेणानन्दो यत्र यतश्चेति जगदानन्दशब्दवाच्यम् अस्मभ्यं श्रीशंभुनाथ आदिशत्, न पुनरेतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

नचैतदुपदेशमात्रादेव विरन्तव्यम्,—इत्याह

तत्र विश्रान्तिराधेया
हृदयोच्चारयोगतः ॥ ५२ ॥

'हृदयानाम्' उक्तवक्ष्यमाणानां सृष्ट्याद्यात्मनां हृदयाच्चोच्चारः ॥

नन्वत्र विश्रान्त्या किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

या तत्र सम्यग्विश्रान्तिः
सानुत्तरमयी स्थितिः ।

एतदेवोपसंहरति

इत्येतद्धृदयाद्येक-
　स्वभावेऽपि स्वधामनि ॥ ५३ ॥
षट्प्राणोच्चारजं रूप-
　मथ व्याप्त्या तदुच्यते ।

यद्यपि स्वात्मतेजसो हृदादावेक एव स्वभावः, नहि हृदयाद्द्वादशान्तं ततोऽपि वा हृदयमपक्रान्तस्य कश्चिद्विशेषः । यदुक्तम्

'चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ।'
(स्व० ४।३१० )

इति । यदभिप्रायेणैव

'चक्राधाराटव्यां भ्रमन्त्यसत्यां परिच्युतविवेकाः ।'

इत्याद्यन्यैरुक्तम्, तथापि संकोचतारतम्येन भेदोल्लासात् सामान्यविशेषरूपतया षट्प्रकारस्य प्राणस्य यः प्राणनापाननाद्यात्मोच्चारः, ततो जातं निरानन्दाद्यात्मकम् एतद्रूपम् 'इति' अनन्तरोक्तेन प्रकारेणोक्तमिति शेषः। इदानी-

मेतदेव मन्त्रव्याप्तिमुखेनाप्यभिधीयते, इत्याह 'अथ' इत्यादि ॥ ५३ ॥

तदेवाह

प्राणदण्डप्रयोगेन
पूर्वापरसमीकृतेः ॥ ५४ ॥
चतुष्किकाम्बुजालम्बि-
लम्बिकासौधमाश्रयेत् ।
त्रिशूलभूमिं क्रान्त्वातो
नाडित्रितयसङ्गताम् ॥ ५५ ॥
इच्छाज्ञानक्रियाशक्ति-
समत्वे प्रविशेत् सुधीः ।

इह खलु योगी मत्तगन्धसंकोचादिक्रमेण प्राणस्य तिर्यक्प्रवाहनिरोधात् कुण्डलतापरिहारेण यो 'दण्डप्रयोगः'

'यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
सा तथैव विबुद्ध्येत गुरुणा प्रतिबोधिता ॥'

इत्यादिनीत्या प्रबुद्धभावेन दण्डाकारतासादनं, तेन 'पूर्वापरयोः' प्राणापानवाहयोः 'समीकृतेः' विषुवद्रूपावलम्बनेन मध्यधामानुप्रवेशात् 'चतुष्किका' ब्रह्मरन्ध्राधोवर्ती चतुष्पथरूपश्चिन्तामण्यभिधान आधारः 'अम्बुजं' भ्रूमध्यवर्ती विद्याकमलनामाधारः, ते 'आलम्बते' ऊर्ध्वाधोवर्तितया स्वीकरोति तच्छीला येयं 'लम्बिका' तदूर्ध्वे सुधाया आधारः, 'सौधः' तं सुधाधारम्। अथच सुधाया इदं 'सौधं' सकारम् 'आश्रयेत्' तत्र विश्रान्तिं कुर्यादित्यर्थः। 'अतो'ऽनन्तरमपि 'सुधीः' योगी नाडीत्रयसंघट्टात्मकत्वात् त्रिशूललक्षणां ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तिनीं नाड्याधाराभिधां 'भूमिम्' आक्रम्य

'तच्छक्तित्रितयारोहात् भैरवीये चिदात्मनि।
विसृज्यते हि तत्............ ॥' (५।१८७)

इत्याद्युक्तयुक्त्या 'इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनां समत्वे' तन्निर्भरे विसर्गादिशब्दव्यपदेश्ये भैरवी-

पं १२ क० ख० ग० पु० रन्ध्राधोवर्तिनीमिति पाठः।

ये रूपे प्रकर्षेण शूलवर्णपरामर्शगर्भीकारेण 'वि-
शेत्' तत्समावेशभाग्भवेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

ननु कथमेतावतैवात्रानुप्रवेशः सिद्ध्येत्? इ-
त्याशङ्क्याह

एकां विकासिनीं भूय-
स्त्वसंकोचां विकस्वराम् ॥ ५६ ॥
श्रयेद् भ्रूबिन्दुनादान्त-
शक्तिसोपानमालिकाम् ।

तु—शब्दो भिन्नक्रमो हेतौ । यतः प्रथमम्
'एकां' दुर्भेद्यत्वात् प्रधानां भ्रुवि बिन्दुः 'भ्रू-
बिन्दुः' इत्यनेन भ्रूपृष्ठादारभ्य बिन्दुनादना-
दान्तशक्तिव्यापिनीसमना एव ऊर्ध्वोर्ध्वपदा-
रोहोपायत्वात् 'सोपानानि' तेषां 'मालिकां
श्रयेत्' ऊर्ध्वकुण्डलिनीपदसमासादनौत्सु-
क्यात् उद्घातक्रमेणाक्रामेदित्यर्थः । ननु

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।'
(स्व० ४।२७)

इत्यादिनीत्या विन्द्वादीनां संकुचितमेव रूपं संभवेत्, तत् कथं नामैतत् नित्योदितत्वात् सततमेव विकस्वरामानन्दसंपदमवाप्तुमुपायतां यायात्, —इत्याशङ्क्योक्तं 'विकासिनीम्' इत्यादि। अनेन हि एषां यथायथं विकासतारतम्यसद्भावात् नित्यविकस्वरेऽपि पदे युक्तमुपायत्वम्,—इत्युक्तं स्यात् ॥ ५६ ॥

ननूर्ध्वकुण्डलिनीपदसमासादनेनापि किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

तत्रोर्ध्वकुण्डलीभूमौ
स्पन्दनोदरसुन्दरः ॥ ५७ ॥
विसर्गस्तत्र विश्राम्ये-
न्मत्स्योदरदशाजुषि ।

यतस्तत्र औन्मनसे पदे 'स्पन्दनस्य' स्वात्मोच्छलत्ताया 'उदरम्' अनन्यस्फुरणात्मा सारस्तेन 'सुन्दरः' स्पृहणीयो 'विसर्गो' विसिसृक्षात्मकं परं पारमेश्वरं रूपं विन्दुद्वयं चा-

स्तीति, 'तत्र' विसर्गे 'विश्राम्येत्' तदैकात्म्येन प्रस्फुरेदित्यर्थः । 'स्पन्दनोदरसुन्दरः' इत्यनेनैव अस्योक्तेऽपि स्वरूपे 'मत्स्योदरदशाजुषि' इत्यनेन सर्वदैव अयं स्पन्ददशाधिशायी न तु कदाचिदेव,—इत्युक्तं स्यात् ॥५७॥

ननु तत्रापि विश्रान्त्या किं स्यात्? इत्याशङ्कां दृष्टान्तप्रदर्शनेन उपशमयति

रासभी वडवा यद्व-
त्स्वधामानन्दमन्दिरम् ॥ ५८ ॥
विकाससंकोचमयं
प्रविश्य हृदि हृष्यति ।
तद्वन्मुहुर्लीनसृष्ट-
भावव्रातसुनिर्भराम् ॥ ५९ ॥
श्रयेद्विकाससंकोच-
रूढभैरवयामलाम् ।

पं० ९ क० पु० आनन्दनिर्भरमिति पाठः ।

यथा रासभी वडवा वा मूत्रादिकाले ‘विकासंकोचमयं’ वहिरन्तर्मुखतयानवरतं स्पन्दमानं वराङ्गलक्षणं ‘स्वमानन्दमन्दिरं धाम प्रविश्य’ तदेकमना भूत्वा ‘हृदि हृष्यति’ स्वात्मन्यानन्दातिशयमनुभवति, तथा ‘मुहुर्लीनाः’ स्वात्मन्युपसंहृताः ‘सृष्टा’ वहिरुल्लासिताश्च प्रमातृप्रमेयाद्यात्मानः सर्वे ‘भावाः’ तैः सुष्ठु ‘निर्भराम्’ अनन्याकाङ्क्षाम्, अत एव यथायोगं ‘विकाससंकोचयोः’ सृष्टिसंहारयोः ‘रूढं’ तथात्वेन स्फुरितं ‘पुमान् स्त्रिया’ (पा० सू० १।२।६७) इत्येकशेषे ‘भैरवस्य भैरव्याश्च यामलं’ द्वन्द्वं यस्यामेवंविधां विसर्गभुवं ‘श्रयेत्’ स्वानन्दसंवित्तिनिमित्तं समाविशेदित्यर्थः। तदेव हि नाम अस्य परस्य प्रकाशस्यानन्यसाधारणं रूपं, यत् सदैव सृष्टिसंहारकारित्वम्,—इति, अन्यथा हि अस्य जडेभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात्,—इत्युपपादितं बहुशः। एवं

सृष्टौ शक्तेः प्ररोहः, संहारे तु शक्तिमतः । य-
दुक्तम्

स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् । ( शि० सू० ३।३० )

इति ।

त्रितयभोक्ता वीरेशः । ( शि० सू० १।११ )

इति च ॥ ५९ ॥

एतदेव संकलयति

एकीकृतमहामूल-
शूलवैसर्गिके हृदि ॥ ६० ॥
परस्मिन्नेति विश्रान्तिं
सर्वापूरणयोगतः ।

'एकीकृतं' संविन्मात्रात्मनावस्थापितं पि-
ण्डीभूतं च 'महामूलं' परमकारणत्वात् माया

'तत एव सकारेऽस्मिन् स्फुटं विश्वं प्रकाशते ।'
( त० ३।१६९ )

इत्याद्युक्त्या विश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् सकारश्च 'शूलम्' इच्छादिशक्तित्रयमौकारश्च 'वैसर्गिकम्' ऊर्ध्वकुण्डलिनीस्थानं विन्दुद्वयं च यत्रैवंविधे 'परस्मिन्' परप्रमात्रात्मनि संहारहृदादिविलक्षणे च 'हृदि' बोधे परावीजे च सर्वस्यान्तर्बहिर्वा यत् 'आपूरणं' स्वात्मसात्कारो भेदोल्लासश्च, तस्य 'योगो' युक्तिस्तस्मात् 'विश्रान्तिमेति' पराहंभावरूपतया स्वात्ममात्रनिष्ठस्तिष्ठेदित्यर्थः । अहंपरामर्शमात्ररूपत्वमेव हि गर्भीकृताशेषविश्वतया परं विश्रान्तिधाम,— इति नः सिद्धान्तः ॥ ६० ॥

अत आह

अत्र तत्पूर्णवृत्त्यैव
विश्वावेशमयं स्थितम् । ॥ ६१ ॥
प्रकाशस्यात्मविश्रान्ता-
वहमित्येव दृश्यताम् ।

---

पं० १० क० पु० विश्रामधामेति पाठः ।

'अत्र' ऊर्ध्वकुण्डलिनीभूमावशेषविश्वक्रोडी-कारेण पूर्णया वृत्त्या 'तदेव' अहंपरामर्शात्म परं हृदयं विश्रान्तिधामतयावस्थितं, यतः प्रकाशस्यात्मनि न तु प्रकाश्ये देहादौ विश्रान्तावह-मित्येव परामर्शो दृश्यतां निरूप्यतामित्यर्थः। नहि अत्र प्रकाशातिरिक्तमन्यत् किंचिदपोह्यमपि संभवेत्, —इति का कथा परामर्शा-न्तरस्येति भावः ॥ ६१ ॥

नन्वनुत्तरं शान्तं परं ब्रह्मैवास्ति, —इति तत्र को नामायम् अहंपरामर्शो यस्यापि विश्रान्ति-धामता स्यात् ? इत्याशङ्कां शमयितुं प्राणतत्त्व-समुच्चारानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं चिदात्मनोच्चा-रमवतारयति

अनुत्तरविमर्शे प्रा-
ग्व्यापारादिविवर्जिते ॥ ६२ ॥

---

पं० ३ क० पु० विश्रामधामेति पाठः।

चिद्विमर्शपराहंकृत्
प्रथमोल्लासिनी स्फुरेत् ।

'प्राक्' पूर्वकोटौ उल्लिलसिषाद्यात्मभिर्व्यापारै-रनुपहिते निस्तरङ्गजलधिप्रख्ये 'अनुत्तरात्मनि विमर्शे' परस्मिन् प्रकाशे प्रथममुल्लसनशीला, अत एव व्यतिरिक्तविमृश्याभावात् 'चिद्विमर्श-परा' स्वात्ममात्रपरामर्शनतत्परा 'अहंकृत्' अहं परामर्शः स्फुरेत् येनास्य सर्वत्रैव स्वातन्त्र्यमुदि-यात्; स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यादेव हि अनुत्तरप्र-काशात्मा परमेश्वरः स्वं स्वरूपं गोपयित्वा प्रमाणादिदशामधिशयानः पृथग्भावजातमा-भासयेत् ॥ ६२ ॥

तदाह

तत उद्योगसक्तेन
स द्वादशकलात्मना ॥ ६३ ॥

---

पं० ४ क० पु० अनुत्तरात्मनि विसर्गे इति पाठः ।
पं० १४ ख० पु० उद्योगरक्तेनेति पाठः ।

सूर्येणाभासयेद्भावं
पूरयेदथ चर्चयेत् ।

'ततो' ऽहंपरामर्शस्फुरणाद्धेतोः स परः प्रकाशः संकुचितप्रमातृभूमिकावभासनपुरस्सरम् 'उद्योगः' अर्थावविभासयिषा, तत्र 'सत्त्वेन' सदैव बहिर्मुखेन 'द्वादश' षण्ठवर्जमकारादिविसर्गान्ता याः 'कलाः' परामर्शास्तत्स्वभावेन प्राप्तपरिपूर्णस्वरूपेण प्रमाणात्मना 'सूर्येण' एकैकं भावम् आ ईषत्संकुचितेन नीलसुखादिना रूपेण 'भासयेत्' बहिः सृजेत्, 'पूरयेत्' तथात्वेनैव कंचित्कालं स्थापयेत्, 'चर्चयेत्' स्वात्मसात्कारेण संहरेदित्यर्थः । यः कश्चनार्थक्रियार्थी हि प्रमाता प्रमाणोपारूढमेवार्थजतं प्रथममालोचयेत्, अनन्तरम् 'इदमित्थम्' इति विकल्पयेत्, तदनु 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इति संतोषाभिमानाद्बहीरूपताविला-

पनेन स्वात्मन्येव विश्रमयेत्,— इत्यनुभवसा-
क्षिकोऽयमर्थः ॥ ६३ ॥

नन्वेवमवभासनादिरूपतामापन्नं भावजातं किं कुर्यात्? इत्याशङ्क्याह

अथेन्दुः षोडशकलो
　विसर्गग्राससमन्थरः ॥ ६४ ॥
संजीवन्यमृतं बोधवह्नौ
　विसृजति स्फुरन्।
इच्छाज्ञानक्रियाशक्ति-
　सूक्ष्मरन्ध्रस्रुगग्रगम् ॥ ६५ ॥
तदेवम[तद]मृतं दिव्यं
　संविद्देवीषु तर्पकम्।

'अथ' प्रमोपारोहानन्तरं 'स्फुरन्' स्वेन रूपे-
णावभासमानोऽत एव 'षोडश' अकाराद्या
बुद्धीन्द्रियाद्याश्च 'कला' यस्यासौ प्राप्तनिजपूर्ण-

पं० ६ ग० पु० ग्रासतत्पर इति पाठः।

स्वरूपोऽत एव उच्छूनरूपतापत्त्या ‘ त्रिसर्गस्य ग्रासः ’ तद्रूपतिरस्कारात्मान्तः, तेन ‘ मन्थरो ’ विस्रब्धो देहादिमेयरूप इन्दुः, ‘ संजीवनी ’

‘ पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् । ’

इत्याद्युक्त्या विश्वसंजीवनहेतुरमाख्या सप्तदशी कला कलाषोडशकाप्यायकारिधातुविशेषात्मकम् ‘ अमृतं बोधवह्नौ ’ परिमिते प्रमातरि ‘ विसृजति ’ प्रमातृप्रमेयाद्यात्मना स्थूलेन रूपेण समुल्लसतीत्यर्थः । तदुक्तेन प्रकारेणोल्लसितम् एतन्नीलसुखाद्यात्मना चिरस्य लब्धप्ररोहममृतम्, इच्छादय एव स्रुक्, तदग्रगं दिव्यं कृत्वा ‘ संविद्देवीषु तर्पकं ’ रूपादिविषयरसास्वादेन दृगादिदेवीः स्वात्ममात्रविश्रान्ता विदध्यादित्यर्थः । सूक्ष्माणि रन्ध्राणि गोलकरूपाणीन्द्रियद्वाराणि । इदमुक्तं भवति – यत्किंचिद्भावजातं तदेषणीयतासमासादनपुरस्सरम् इन्द्रियद्वारोपारोहेण ज्ञेयतामासाद्य तत्तदर्थक्रिया-

कारितया स्वात्ममात्रविश्रान्त्युपजननेन संविदः पूर्णतामावहतीति ॥ ६५ ॥

नन्वेवं संविद्देवीतर्पणेन कोऽर्थः, — इत्याशङ्क्याह

विसर्गामृतमेतावद्
　बोधाख्ये हुतभोजिनि ॥ ६६ ॥
विसृष्टं चेद्भवेत्सर्वं
　हुतं षोढाध्वमण्डलम् ।

यद्गुरुवरः

'सर्वभावमयभावमण्डलं
　विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि ।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो
　विश्वमेधमययज्ञयाजिनः ॥'

इति । अत्रामृतबीजाद्युद्धारः प्राग्व्याख्ययैव गतार्थः, — इत्यतिरहस्यत्वात् नेह पुनरायस्तम्
॥ ६६ ॥

ननु यदि नामैतावत् विसर्गामृतं परप्रमात्रात्मना परामृष्टं, तावता षड्विधस्याध्वमण्डलस्य किमायातं यदेवमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

यतोऽनुत्तरनाथस्य
विसर्गः कुलनायिका ।
तत्क्षोभः कादिहान्तं त-
त्प्रसरस्तत्त्वपद्धतिः ॥ ६७ ॥

'कुलनायिका' इति कौलिकी शक्तिः । यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥' (३।१४४)

इति । 'तत्क्षोभ' इति तस्य विसर्गस्य क्षोभः, क्षोभाधार इत्यर्थः । यदुक्तम्

'कादिहान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधाः ।' (३।१८०)

इति । 'तत्प्रसर' इति तस्य कादिहान्तस्य क्षोभाधारस्य 'प्रसरः' प्रपञ्च इत्यर्थः । यदुक्तम्

'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥

वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ।
तदूर्ध्वं शादिविख्यातं पुरस्ताद्ब्रह्मपञ्चकम् ॥
अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।'

( परात्रीं० ७ श्लो० )

इति ॥ ६७ ॥

ननु यदि नामानुत्तरनाथस्य त्रिसर्गः कौलिकी शक्तिः, तन्मातृकोदये किमेवं प्रदर्शितं न वा? इत्याशङ्क्याह

अंअ इति कुलेश्वर्या
सहितो हि कुलेशिता ।

यदुक्तम्

'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति ।
उक्तं विन्दुतया शास्त्रे शिवविन्दुरसौ मतः ॥'

( तं० ३।१३४ )

इति ।

'अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ।
सैव क्षोभवशादेति त्रिसर्गात्मकतां ध्रुवम् ॥'

( तं० ३।१३७ )

इति च ॥

ननु 'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या' इत्याद्युक्तयुक्त्या शक्तिमतः शक्तेश्च विश्लेषो नास्ति, –इति कथमनयोर्भेदेनोदयः प्रदर्शितः? इत्याशङ्क्याह

परो विसर्गविश्लेष-
स्तन्मयं विश्वमुच्यते ॥ ६८ ॥

विसर्गस्य 'विश्लेषो' विश्लिष्टो विसर्ग इत्यर्थः। अत एव शक्तिमतो भेदित्वात् परः,–इत्युक्तम्। तत्स्फार एव च विश्वमित्युक्तं 'तन्मयं विश्वमुच्यते' इति। तदुक्तम्

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥'

इति। एवं विसर्गामृते परप्रमात्रात्मतया परामृष्टे षड्विधोऽपि अध्वा तत्सादेव भवेत्,–इति युक्तमुक्तं 'हुतं षोढाध्वमण्डलं भवेत्' इति॥६८

पं० १२ इदं पद्यं सर्वमङ्गलायाम्।

अतश्च तदधिकारेणैव सर्वमिदं बाह्यमर्चनादि विधेयम्? इत्याह

वित्प्राणगुणदेहान्त-
बहिर्द्रव्यमयीमिमाम्।
अर्चयेज्जुहुयाद्ध्याये-
दित्थं संजीवनीं कलाम् ॥ ६९ ॥

'इत्थम्' उक्तेन प्रकारेणेमामेव निखिलजगदाप्यायकारिणीममाख्यां संजीवनीं कलामाश्रित्य सार्वात्म्यप्रतिपत्तितत्त्वमर्चनादि विदध्यात्; यतो विद्याऽज्या परा संवित्, प्राणबुद्धिदेहात्मानः प्रमातनारश्च याजकाः, तदपेक्षया अन्तर्बहीरूपाणि रत्नपञ्चकतत्प्रतिनिधिरूपकुङ्कुमाद्यात्मकानि यागसाधनभूतानि द्रव्याणि च प्रकृतिर्यस्यास्तां तत्स्फारसारामित्यर्थः ॥ ६९ ॥

नन्वेवमर्चनादि सिद्ध्येत् यद्येषा विसर्गभूरासाद्येत, तदासादन एव हि महान् संरम्भो

पं० ३ क० ख० पु० चित्प्राणेति पाठः

पं० १६ क० पु० संरम्भोऽयमिति पाठः

यो युगसहस्रैरपि पारं न यायात्,—इत्यपर्यवसितमेव शास्त्रार्थानुष्ठानं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

आनन्दनाडीयुगल-
स्पन्दनावहितो स्थितः।
एनां विसर्गनिःष्यन्द-
सौधभूमिं प्रपद्यते ॥ ७० ॥

आनन्दप्रधानं यत् सिद्धयोगिनीसंबन्धि वराङ्गलक्षणं 'नाडीयुगलं' तस्य यत् 'स्पन्दनं' रिरंसया परस्परौन्मुख्यं तत्र 'अवहितिः' षडरमुद्राप्रवेशादिक्रमेण तदेकाग्रता तत्र 'स्थितः' प्ररोहं प्राप्तः सन् एनां संजीवनीं कलां 'विसर्गस्य' विसिसृक्षात्मकस्य पारमेश्वरस्य रूपस्य चरमधातोश्च 'निःष्यन्दः' प्रसरस्तस्य 'सौधभूमिं' विश्रान्तिस्थानं स एव आनन्दातिशयकारित्वात् 'सौधं' सुधासमूहस्तस्य 'भूमिम्' आकरस्थानं प्रपद्यते, तदैकात्म्यमासादयेदित्यर्थः। एतदुक्तं

---

पं० ९ क० पु० षडश्रमुद्रेति पाठः।

भवति — इह खलु सर्वेषां ग्राम्यधर्मसेवनं तावदनुक्तसिद्धं, तत्रैव युक्तिलेशमाश्रित्य अवधानमात्रमेव चेत् कृतं तदयत्नेनैव विसर्गभूः समासादिता भवेत्, — इति को नामात्र संरम्भो यदसिद्ध्या शास्त्रार्थानुष्ठानमप्यपर्यवसितं स्यादिति ॥ ७० ॥

नन्वस्तु नाम अस्योपायस्य सुखसाधनत्वं, किंतु यत्रोपायजालमपि भग्नशक्ति संवृत्तं, तत्र किमनेनैककेनैव कार्यम्? इत्याशङ्क्याह

शाक्ते क्षोभे कुलावेशे
सर्वनाड्यग्रगोचरे ।
व्याप्तौ सर्वात्मसंकोचे
हृदयं प्रविशेत्सुधीः ॥ ७१ ॥

'शाक्ते क्षोभ' इति बाह्यशक्तिसंभोगे । यदुक्तम्

पं० ९ ख० पु० एकैकेनैवेति पाठः ।

'शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥'
(वि० भै० ६९ श्लो०)

इति । 'कुलावेश' इति बाह्यशक्त्यभावेऽपि 'कुलस्य' शाक्तस्य स्वरूपस्य 'आवेशे' स्मरणपुरस्सरं भावनातिशयात् तन्मयीभावे इत्यर्थः । तदुक्तम्

'लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात् स्मृतेः ।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ॥'
(वि० भै० ७० श्लो०)

इति । 'सर्वनाडीनामग्रगोचरे' प्रधाने पार्यन्तिके वा विषये द्वादशान्ते । यदुक्तम्

'यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥'
(वि० भै० ९१ श्लो०)

इति । यद्वा 'अग्रगोचरे' प्रान्तदेशे यत्र कक्षादाविवाङ्गुलीभिर्मृदुप्रचोदनेन महानानन्दो जायते । यदुक्तम्

---

पं० २ ख० पु० स्वैक्यमिति पाठः ।

'कुहनेन प्रयोगेन सद्य एव मृगेक्षणे ।
समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं विभाव्यते ॥'
(वि० भै० ६६ श्लो० )

इति । 'व्याप्तौ' इति सार्वात्म्यप्रतिपत्त्या सर्वाक्षेपकारिणि विकासस्समाधावित्यर्थः । यदुक्तम्

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ॥'
(वि० भै० १०९ श्लो० )

इति,

'जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गाः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ॥'
(वि० भै० ११० श्लो० )

इति च । 'सर्वात्मसंकोच' इति सर्वेणात्मना बाह्यस्य संकोचे 'नैतद्वस्तु सत् किंचित्' इति भावनायामित्यर्थः । यदुक्तम्

'निराधारं भवेज्ज्ञानं निर्निमित्तं भ्रमात्मकम् ।
तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवं-भावी शिवः प्रिये ॥'
(वि० भै० ९९ श्लो० )

---

पं० ११ क० पु० विनिर्गता इति पाठः ।

इति । तथा

> 'इन्द्रजालमयं विश्वं न्यस्तं वा चित्रकर्मवत् ।
> भ्रमाद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ॥'
>
> (वि० भै० १०२ श्लो० )

इति । एवमादौ विषये 'सुधीः' पूर्णज्ञानो यः कश्चिदपश्चिमजन्मा स 'हृदयं प्रविशेत्' विसर्गभुवमधिशेत इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

ननु यद्येवमत्रानेके उपायाः संभवन्ति तत् कथं शाक्तस्यैव क्षोभस्य प्राधान्येन निर्देशः कृतः ? इत्याशङ्क्याह

> सोमसूर्यकलाजाल-
> परस्परनिघर्षतः ।
> अग्नीषोमात्मके धाम्नि
> विसर्गानन्द उन्मिषेत् ॥ ७२ ॥

'सोमसूर्ययोः' मेयमानयोर्यच्छब्दाद्यात्म श्रोत्रादिरूपं च 'कलाजालं' तस्य योऽसौ ग्राह्य-

---

पं० ८ ग० पु० यद्यमुत्रानेके इति पाठः ।

ग्राहकभावात्मा परस्परं संघट्टः, ततस्तदुभय-क्रोडीकारात् चक्रानुचक्रदेवीरूपं 'कलाजालं' तस्य परस्परं मेलनात्मा संघर्षः, ततः

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः संघर्षात् सोमसूर्ययोः ।'

इत्याद्युक्त्या अग्नीषोमात्मके मध्यमे धाम्नि अ-नुप्रवेशेन 'विसर्गानन्द उन्मिषेत्' मुख्यया वृत्त्या चरमधातुप्रक्षेपात्म परं सामरस्यमुदि-यात्, यदनुकल्पतया पुनरन्यत्रानन्द उपच-र्यते येन तदपि परसंविदनुप्रवेशे निमित्ततां यायात् ॥ ७२ ॥

एतदेवोपसंहरति

अलं रहस्यकथया
　　गुप्तमेतत्स्वभावतः ।
योगिनीहृदयं तत्र
　　विश्रान्तः स्यात्कृती बुधः ॥७३॥

यत एतद्योगिनीनां 'हृदयं' परमं विश्रा-

न्तिस्थानम्, अत एव स्वभावतो गुप्तमित्यभिहितम्, यदभिप्रायेणैव

'एतन्नायोगिनीजातो नारुद्रश्चापि विन्दति ।'

(परात्री० १० श्लो०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम्। 'तत्र' इति योगिनीहृदयात्मनि विसर्गोन्मेषे, 'बुध' इत्यनेनात्र ज्ञानित्वस्यैव प्राधान्यम्,—इति कटाक्षितम् ॥ ७३ ॥

नन्वत्र विश्रान्तस्य किं नामाभिज्ञानम्? इत्याशङ्क्याह

हानादानतिरस्कार-
वृत्तौ रूढिमुपागतः ।
अभेदवृत्तितः पश्ये-
द्विश्वं चितिचमत्कृतेः ॥ ७४ ॥

हेयोपादेयविषययोर्हानादानयोः

'मा किंचित्त्यज मा गृहाण ।' (अनुत्तरा० ७ श्लो०)

इत्याद्युक्तिवशात् यस्तिरस्कारः, तत्र येयं निर्विकल्पात्मिका वृत्तिः, तत्र 'चितिचमत्कृतेः' चिदैकात्म्यविमर्शात् प्ररोहं प्राप्तः सन् विश्वमभेदवृत्तितः 'पश्येत्' स्वात्मैकात्म्येन जानीयादित्यर्थः । तेनेदमेवास्य मुख्यं लक्षणं परतत्त्वान्तःप्रवेशे—यत् हानादानतिरस्कारेण स्वात्ममात्र एवावस्थानमिति । अत एवानेन चिदात्मोच्चारानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टः परतत्त्वान्तःप्रवेशोऽपि निर्णेतुमुपक्रान्तः । भेदेऽपि हि सति हेयोपादेयविभागः, स एव यस्य विगलितस्तस्य किं नाम हेयं किं वोपादेयम्, – इति पूर्णैवास्य परा संविदुल्लसेत् ॥ ७४ ॥

तदाह

अर्थक्रियार्थितादैन्यं
त्यक्त्वा बाह्यान्तरात्मनि ।
स्वरूपे निर्वृतिं प्राप्य
फुल्लां नाददशां श्रयेत् ॥ ७५ ॥

---

पं० १ ख० पु० इत्याद्युक्तवदिति पाठः ।

इह खलु तत्त्वान्तरनुप्रविष्टो योगी बाह्या-न्तरस्वभावे नीलसुखादावर्थजाते हेयोपादेय-विभागाभावात् तत्तत्प्रतिनियतार्थक्रियाकाङ्क्षा-दैन्यमपहाय सर्वभावानां संह्रियमाणत्वात् आ-काशबीजस्योद्धारः । तदनु तस्यैव प्ररोहाद्विक-स्वरां 'नाददशां श्रयेत्' इति विमर्शात्मिकां विश्वोत्तीर्णां संविदमासादयेदित्यर्थः । एवं च प्रथमं विश्वसंहारस्योपक्रान्तत्वात् आकाशबीज-स्योदयः, तदनु तस्यैव प्ररोहात् संहारकुण्ड-लिनीबीजस्य,—इति श्रीपिण्डनाथसंबन्ध्याद्य-वर्णद्वयमपि अनेनोद्धृतम् ॥ ७५ ॥

नन्वेवमासादितयापि अनया कोऽर्थः स्यात्? इत्याशङ्क्याह

वक्त्रमन्तस्तया सम्यक्
संविदः प्रविकासयेत् ।
संविदक्षमरुच्चक्रं
ज्ञेयाभिन्नं ततो भवेत् ॥ ७६ ॥

'तया' विश्वोत्तीर्णसंविद्रूपया नादद्शया सम्यक् विश्वोपसंहारपुरस्सरं भेदतिरस्कारेण मार्गशुद्धिमादधानया विश्वोत्तीर्णत्वेऽपि विश्वमय्याः परस्याः संविदो 'ऽन्तर्वक्त्रम्' अन्तर्मुखं रूपम् एवंविधो योगी 'प्रविकासयेत्' विकासयोग्यं विदधातीत्यर्थः । 'ततः' संविदो विकासयोग्यताधानाद्धेतोः 'संविदां' नीलादिज्ञानानाम् 'अक्षाणां' तदुत्पत्तिनिमित्तभूतानामिन्द्रियाणां 'मरुतां' तत्सामान्यवृत्त्यात्मनां प्राणादिरूपाणां यत् मातृमानमेयस्वभावं चक्रं, तत् शून्यप्रमात्रपेक्षया विश्वाभावरूपं यज्ज्ञेयं, तदभिन्नमकिंचिद्रूपं भवेत् ॥ ७६ ॥

नन्वेवमपि भावसंस्कारस्य विद्यमानत्वात् एकान्ततो भेदविगलनं न वृत्तम्, – इति कथं संविन्मात्रात्मन्यनुप्रवेशः सिद्ध्येत्? इत्याशङ्क्याह

तज्ज्ञेयं संविदाख्येन
वह्निना प्रविलीयते।
विलीनं तत् त्रिकोणेऽस्मि-
ञ्शक्तिवह्नौ विलीयते ॥ ७७ ॥

'तत्' अभावात्म ज्ञेयं परप्रमात्रात्मना संवि-दाख्येन वह्निना प्रकर्षेण निःसंस्कारं 'विलीयते' विगलति, संविदग्निरेवावशिष्यत इत्यर्थः। अने-नाभावस्यापि विलापनादग्निबीजस्योद्धारः कृतः। एवं 'विलीनं' संविन्मात्रात्मतामापन्नमपि त-ज्ज्ञेयं संवित्त्वान्यथानुपपत्त्या अस्मिन् इच्छा-दिशक्तित्रयात्मनि 'त्रिकोणे शक्तिवह्नौ' सर्वश-क्तिक्रोडीकारिण्यां स्वातन्त्र्यशक्तौ 'विलीयते' त-न्मात्रसारतया प्रस्फुरतीत्यर्थः। एवमनेन सं-विन्मात्र एव विश्रान्तेः शक्तिबीजस्याप्युद्धारः कृतः। इह खलु इदमेव संविदः संवित्त्वं यत् परामष्टृत्वं नाम, यस्य विमर्शः स्पन्दो हृदयं

पं० ५ ग० पु० तदपि अभावात्मेति पाठः।

विसर्गः,—इत्यादयः सहस्रशो व्यपदेशाः । यदुक्तम्

> 'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
> विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥'

इति ॥ ७७ ॥

अतश्च मुख्यया वृत्त्या तत्रैव विश्रमणीयं येन साक्षात् परतत्त्वान्तरनुप्रवेशः सिध्येत्? इत्याह

> तत्र संवेदनोदार-
> बिन्दुसत्तासुनिर्वृतः ।
> संहारबीजविश्रान्तो
> योगी परमयो भवेत् ॥ ७८ ॥

तत्रैवं स्थिते सति परप्रमात्रात्मनः 'संवेदनस्य' संवेदकत्वाधानात् 'उदारा' महती येयं 'बिन्दुसत्ता' विदिक्रियाकर्तृत्वात्मिका परा

---

पं० ४ कालिकाक्रमोक्तं प्रमाणमिदम् ।

परामर्शदशा, तया सुष्ठु नैराकाङ्क्ष्येण 'निर्वृतः' स्वात्मचमत्कारातिशयशाली, अत एव 'संहारबीजे' परप्रमात्रात्मनि बिन्दोरपि उदयात् श्रीपिण्डनाथे च 'विश्रान्तः' तदैकात्म्यमापन्नोऽत एव 'परमयो योगी भवेत्' परतत्त्वैक्यभाक् भवतीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

ननु संविदपेक्षयापि विमर्शस्यैव विश्रान्तिस्थानत्वं प्राधान्येन कस्मादुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

अन्तर्बाह्ये द्वये वापि
सामान्येतरसुन्दरः ।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा
संकोचप्रविकासवान् ॥ ७९ ॥

स एव हि संवित्स्पन्दो 'ऽन्तः' परप्रमात्रात्मनि शिवतत्त्वे सर्वविशेषस्वीकारात् सामान्यात्मा, अत एव प्रविकासवान् अहमिति;

'बाह्ये' मायातः क्षित्यन्तं भेदोल्लासाद्विशेषात्मा, अत एवान्योन्यव्यावृत्त्या संकोचवान् इदमिति; 'द्वये' ऽन्तर्बहीरूपे विद्यापदे समधृततुलापुटन्यायेन 'अहमिदम्' इति सामान्यविशेषात्मा, अत एव संकोचप्रविकासवान्, अत एवाशेषविश्वोल्लासकारित्वात् इच्छादिशक्तित्रयात्मा, – इति स एव परं विश्रान्तिस्थानम्, – इति तत्रैवावधेयम् ॥ ७९ ॥

ननु यद्येवं तर्ह्यस्य संकोचविकासवत्त्वेन नानात्वात् जाड्यमापतेत्, – इति समाप्तं विश्रान्तिस्थानत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

असंकोचविकासोऽपि
तदाभासनतस्तथा ।

वस्तुतः संविदेकस्वभावत्वात् असंकोचविकासोऽपि असौ संवित्स्पन्दः स्वस्वातन्त्र्येण तथा संकोचादिरूपतया अवभासते, – इति

तथा 'संकोचविकासवान्' इत्युच्यते न तु वस्तुतस्तथा समस्तीति भावः ॥

ननु यदि नाम संकोचविकासाद्यस्य वस्तुतो नास्ति, तत् तदवभासने किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः
परमं पदमश्नुते ॥ ८० ॥

इह हि 'बहिः' इदन्तापरामृश्ये देहघटादौ

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥'

इत्यादिश्रीकालिकाक्रमोक्त्या संवित्स्फारसारा एवैते,—इत्येवमात्मदृष्टिः, अत एव 'अन्तः' अहंपरामर्शात्मनि संवित्तत्त्वे सावधानो बाह्यविषयासङ्गेऽपि स्वरूपपरामर्शपरत्वात् भैरवमुद्रानु-

पं० १२ क० पु० तदात्मतां प्राप्तमिति पाठः ।

प्रविष्टो योगी 'परमं पदमश्नुते' विमर्शदशामधिशेते इत्यर्थः। तेन 'अविद्यैव विद्योपाय' इत्यादिन्यायेन संकुचितमपि बाह्यं रूपं विकस्वरस्वरूपापत्तौ निमित्ततां यायात्,—इत्युक्तं स्यात्। तत्र चोचितेन विमर्शेन भाव्यम्,—इति विशेषात्मन इदमिति परामर्शस्यापि उल्लासः,—इति युक्तमुक्तं 'तथाभासनतस्तथा' इति ॥ ८० ॥

अत आह

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये
विचित्रार्थक्रियाकृति।
विमर्शनं विशेषाख्यः
स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ॥ ८१ ॥

'ततः' समनन्तरोक्ताद्धेतोः स्वस्वातन्त्र्योत्थापिते तत्तदर्थक्रियाकारिणि भावजाते यदिदमिति विमर्शनं स विशेषाख्यः स्पन्दस्तत्तद-

र्थक्रियार्थितातारतम्येन प्रवृत्तेः 'औन्मुख्यसंज्ञित' औन्मुख्यशब्दव्यपदेश्यः स्यादित्यर्थः ॥ ८१ ॥

न च अत्रैव विश्रमणीयम्, — इत्याह

तत्र विश्रान्तिमागच्छे-
द्यद्वीर्यं मन्त्रमण्डले।
शान्त्यादिसिद्धयस्तत्त-
द्रूपतादात्म्यतो यतः ॥ ८२ ॥

तत्र

'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥'
(अजडप्र० सि० १५ श्लो०)

इत्याद्युक्त्या इदंविमर्शविश्रान्तिधामनि अहंपरामर्शे विश्रान्तिं कुर्यात्, यत् न केवलमत्र यावन्मन्त्रमण्डलेऽपि वीर्यं, यतोऽहंपरामर्शानुविद्धमन्त्रमण्डलैकात्म्यादेव तत्फलभूता विचित्रे-

तिकर्तव्यताकाः शान्त्यादिसिद्धयो भवेयुरित्यर्थः। संविद्विश्रान्तिमन्तरेण हि न किंचिदेव भवेदिति भावः। यद्वक्ष्यति

'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते।' (तं० ८।३)

इति ॥ ८२ ॥

न केवलमेतदेवं यावदिन्द्रियाण्यपि,—इत्याह

दिव्यो यश्चाक्षसंघोऽयं
बोधस्वातन्त्र्यसंज्ञकः।
सोऽनिमीलित एवैतत्
कुर्यात्स्वात्ममयं जगत् ॥ ८३ ॥

इह खलु बाह्यार्थौन्मुख्येऽपि अन्तर्लक्ष्यत्वाद्दिव्योऽत एव शुद्धबोधैकरूपत्वात् बोधस्वातन्त्र्यशब्दाभ्यां न तु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियशब्दाभ्यां व्यपदेश्यो योऽयमिन्द्रियसमूहः स बहिः 'अनिमीलितो' व्यापृत एव सन् भैरवमुद्रानुप्रवेशक्रमेण एतज्जगत् 'स्वात्ममयं कुर्यात्' संविन्मात्रसारतया परामृशेदित्यर्थः ॥ ८३ ॥

ननु कथमेवं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

महासाहससंयोग-
विलीनाखिलवृत्तिकः ।
पुञ्जीभूते स्वरश्म्योघे
निर्भरीभूय तिष्ठति ॥ ८४ ॥
अकिंचिच्चिन्तकस्तत्र
स्पष्टदृग्याति संविदम् ।
यद्विस्फुलिङ्गाः संसार-
भस्मदाहैकहेतवः ॥ ८५ ॥

महासाहसशब्दाभिधेयचकितमुद्रानुप्रवेशेन 'विलीना' बाह्याद्विगलिताः प्रत्यावृत्ता निखिला इन्द्रियवृत्तयो यस्य स तथा, अत एव 'अकिंचिच्चिन्तको' बहिरौन्मुख्याभावात् निरवधानोऽत एव 'स्वरश्म्योघे' तत्तदिन्द्रियमरीचिचक्रे 'पुञ्जीभूते' भेदविगलनात् स्वात्मन्येव

पं० १० क० ख० ग० पु० साहसमुद्राशब्देति पाठः ।

संघटितेऽत एव 'निर्भरीभूय' पूर्णतामासाद्य तिष्ठति सति, तत्र अन्तरहंपरामर्शात्मनि प्रमातृ-तत्त्वे 'स्पष्टदृक्' प्रस्फुटाववोधः 'संविदं याति' परतत्त्वान्तरनुप्रविशेत् यत्स्फारमात्रादयत्नत एव संसारापकृतिः सिद्ध्येत् ॥ ८४–८५ ॥

न चैवमस्माभिः स्वोत्प्रेक्षितमेवोक्तमित्याह

तदुक्तं परमेशेन
त्रिशिरोभैरवागमे ।

तदेव पठति

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि
मन्त्रभूम्यां प्रवेशनम् ॥ ८६ ॥

'मन्त्रभूम्याम्' इति परतत्त्वान्तः ॥ ८६ ॥

किं तत्? इत्याशङ्क्याह

मध्यनाड्योर्ध्वगमनं
तद्धर्मप्राप्तिलक्षणम् ।

पं० ५ क० पु० अपाकृतिरिति पाठः ।

विसर्गान्तपदातीतं
प्रान्तकोटिनिरूपितम् ॥ ८७ ॥

यन्नाम 'विसर्गान्तपदं' द्वादशान्तपदमतिशयेन इतं प्राप्तं तदवधिकं 'मध्यनाड्या' उदानवाहक्रमेण 'ऊर्ध्वं गमनं' तन्मन्त्रभूम्यां प्रवेशनमुच्यते, — इत्यर्थाक्षिप्तम् । यतस्तस्याः संवित्तत्त्वात्मिकाया मन्त्रभूमेर्ये निरावरणत्वनिर्विकल्पत्वादयो 'धर्माः' तेषां 'प्राप्तिः' तदैकात्म्येन स्फुरत्ता तद्रूपम्, अत एव प्रान्तकोटित्वेन निरूपितं सर्वत्रैव परा काष्ठा, — इत्युद्घोष्यते इत्यर्थः । यदुक्तम्

'यन्निरावरणं संवित्सतत्त्वं कल्पनोज्झितम् ।
तत् परं पुत्रि कथितं सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'

इति ॥ ८७ ॥

तच्च कथं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

अधःप्रवाहसंरोधा-
दूर्ध्वक्षेपविवर्जनात् ।

महाप्रकाशमुदय-
ज्ञानव्यक्तिप्रदायकम् ॥ ८८ ॥
अनुभूय परे धाम्नि
मात्रावृत्त्या पुरं विशेत् ।

'अधःप्रवाहस्य' अपानस्य 'ऊर्ध्वक्षेपस्य' प्राणस्य चापहस्तनात् तदुभयघट्टनेन परे मध्यमे धाम्नि

'पीत्वाकुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुले ।
पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन पार्वति ॥
सा च प्राणवहा ख्याता तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे ।'

इत्यादिना निरूपितस्वरूपा या मात्रा तस्या 'आवृत्त्या' आवर्तनेन पुनःपुनर्गणनया

'उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत्तावदन्ते महोदयः ॥'
(वि० भै० २९ श्लो०)

इत्याद्युक्तयुक्त्या तत्तच्चक्रोल्लङ्घनक्रमेण द्वादशान्तभुवि 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायेन

पं० १३ क० ख० पु० क्रमात्परमिति पाठः ।

अवभासनक्रियाविच्छेदाभावात् उदयप्रधानं नित्योदितं यदात्मज्ञानं तस्य 'व्यक्तिप्रदायकं' तद्रूपतयावभासमानं परप्रमातृरूपं 'महाप्रकाशमनुभूय पुरं विशेत्' मन्त्रभूमिरूपां पूर्णां स्वात्मवृत्तिमासादयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सा च किंविधा? इत्याशङ्क्याह

निस्तरङ्गावतीर्णा सा
वृत्तिरेका शिवात्मिका ॥ ८९ ॥
चतुष्षड्द्विर्द्विगुणित-
चक्रषट्कसमुज्ज्वला ।
तत्स्थं [ त्स्थो ] विचारयेत् खं खं
खस्थं खस्थेन संविशेत् ॥ ९० ॥
खं खं त्यक्त्वा खमारुह्य
खस्थं खं चोच्चरेदिति ।
खमध्यास्याधिकारेण
पदस्थाश्चिन्मरीचयः ॥ ९१ ॥

सा च स्वात्मरूपा वृत्तिर्निःशेषविश्वोपश-
मात् 'निस्तरङ्गा' स्वात्ममात्रविश्रान्त्या शान्त-
रूपेत्यर्थः । अत एवैकेत्युक्तम् । न चैवमस्या
विश्वोत्तीर्णमेव रूपं संभवति, अपितु तथात्वेऽपि
विश्वमयीत्याह 'अवतीर्णा' इति, तत्तद्रूपतया
बहिरुल्लसितेत्यर्थः। अत एव तत्रत्यबहुग्रन्थार्थ-
गर्भीकारेणाह 'चतुष्षड्द्विर्द्विगुणितचक्रषट्कस-
मुज्ज्वला' इति । यदुक्तं प्राक्

'चतुष्षड्द्विर्द्विगणनायोगात् त्रैशिरसे मते ।
षट्चक्रेश्वरता नाथस्योक्ता चित्रनिजाकृतेः ॥' (१।११४)

इति । एवमपि नास्याः स्वस्वरूपात् प्रच्यावः,—
इत्युक्तं 'शिवात्मिका' इति । तेनास्या बही-
रूपतया स्फुरत्तायामपि परप्रमात्रात्मनि स्वस्व-
रूपे एव विश्रान्तिः,—इत्युक्तं स्यात्, यद-
भिप्रायेणैव भैरवमुद्राया अभिधानम् । एतच्च
अतिरहस्यत्वात् गोपनीयम्,—इत्याशयेन भग-
वान्निगूढार्थतयाभिधत्ते 'खस्थम्' इत्यादिना ।

---

पं० १ क० पु० शमनादिति पाठः ।

इह खलु योगी भूतिशब्दवाच्यमैश्वर्यात्मस्वातन्त्र्यलक्षणं 'खमारुह्य' अवलम्ब्य स्वस्वरूपं गोपयित्वा दिक्कालादिना संकुचत्तामवभास्य अणुशब्दव्यपदेश्ये खे स्थितं संकुचितात्मतया स्फुरितं 'खम्'

'परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ।।' (ने० तं० ८।२८)

इत्याद्युक्तया पूर्णप्रथात्मकमवश्यज्ञेयमात्मानं 'विचारयेत्' किमस्य संकुचितमेव तात्त्विकं रूपं न वेति विमर्शपदवीं नयेदित्यर्थः । एवं हि पारमार्थिकस्य रूपस्य लाभो भवेदिति भावः । तदुक्तं तत्रैव

'खं हि यद्भैरवं ज्ञेयं सर्वमार्गान्तमन्तगम् ।
विचारयेत्तु यो धीमान् करणव्याप्तिमध्यगः ।।
भूमिकास्थो हि चक्रस्थो विन्दते परमार्थतः ।'

इति । तच्च कथम्? इत्याशङ्क्योक्तं 'खस्थेन स्वस्थं खं चोच्चरेदिति' । चशब्दो हेतौ । यतः 'खे' रतावबतिष्ठमानेन तदासक्तेन सावधानेन

चेतसा 'खे' कुलमूले शक्त्युत्पत्त्यात्मनि जन्माधारे स्थितं 'खं' प्राणरूपां शक्तिमुच्चरेत्

'आमूलात् किरणाभासां सूक्ष्मसूक्ष्मपरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥'
(वि० भै० २८ श्लो० )

इत्याद्युक्त्या मध्यधामप्रवेशक्रमेण ऊर्ध्वे द्वादशान्तं नयेत् येन क्रियाशक्त्यात्मनि 'खे' गतं दृश्यं तदुपरक्तां क्रियाशक्तिं प्रमेयभुवं, तथा 'खे' ज्ञानशक्ताववस्थितं द्रष्टारं तदुपरक्तां ज्ञानशक्तिं प्रमाणभुवं त्यक्त्वा प्रमाणप्रमेयात्मव्यवहारपरत्वेऽपि तदासङ्गमपहायेत्यर्थः । यद्यपि अत्रोभयत्रापि द्रष्टृदृश्योपरागः संभवति तथापि प्राधान्यादेवमुक्तम् । तथा 'खं' द्रष्टृदृश्याद्युपाधिवर्जितां स्वविमर्शमात्ररूपामिच्छाशक्तिम्, 'अधिकारेण अध्यास्य' स्वावष्टम्भबलेनाक्रम्य चितिशब्दाभिधेयं 'खं'

'विमर्शधाम तुर्यं च व्यापकं चोर्ध्वमध्यतः ।
सुशिरं तत्त्वराजानं पराकाशं प्रकीर्तितम् ॥'

---

पं० १७ ख० पु० विमर्षधामेति पाठः ।

इत्यादिनीत्या श्रीत्रिशिरोभैरवोक्त्या निरूपित-स्वरूपं परतत्त्वलक्षणं तुर्यातीतपदं सम्यग्भैरव-मुद्रानुप्रवेशक्रमेण 'विशेत्' समावेशभाक् भवे-दित्यर्थः। एवं च 'चिन्मरीचयः' तत्तदिन्द्रिय-वृत्तयो बहिरौन्मुख्याभावात् 'पदस्थाः' तुर्या-तीतदशामधिशयाना एव भवन्तीत्यर्थः ॥ ९१ ॥

एवमप्यत्राप्रमत्तेन भाव्यम्,—इत्याह

भावयेद्भावमन्तःस्थं
भावस्थो भावनिःस्पृहः।
भावाभावगती रुद्ध्वा
भावाभावावरोधदृक् ॥ ९२ ॥

एवमपि 'भावाभावगती रुद्ध्वा' प्राणापान-क्षोभमपहाय 'अन्तःस्थं भावम्' आन्तरीं सत्तां योगी 'भावयेत्' मध्यधामानुप्रवेश-क्रमेण पौनःपुन्येन तत्रैव आसक्तिं कुर्यात् येन

पं० ८ ख० पु० भावयेयुर्भावमन्तरिति पाठः।
पं० ११ क० ख० अवबोधदृगिति पाठः।

व्युत्थानेऽपि अतः प्रच्यावो न स्यात्, अत एव स 'भावस्थो' ग्राह्यग्राहकसंक्षोभेऽपि बाह्यान्तःकरणवर्गेणालुप्तसंवित्तिः स्वात्ममात्रपरिनिष्ठित एवेत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव

'ऊर्ध्वाधोगमविक्षेपरहितः करणेच्छया।
रूपं यस्य न हीयेत भावस्थो भावभासकः॥
स्वरूपप्रतिपन्नोऽसावन्तःकरणवर्जितः।
भावस्थं तं विजानीयाद्ग्राह्यग्राहकविप्लवे॥'

इति। अत एव 'भावाभावयोः' प्राणापानयोर्मध्यधामानुप्रवेशेन निस्तरङ्गतया साम्यात्मा योऽसौ 'अवरोधः' तं पश्यति साक्षात्करोतीत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव

'प्राणापानौ समौ यस्य साम्यावस्थानमागतौ।
निस्तरङ्गप्रकारेण भावाभावावरोधदृक्॥'

इति। अत एव बहिरौन्मुख्याभावात् 'भावनिःस्पृहः' स्वस्वरूपनिष्ठ एवेत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव

'स्वरूपस्थितिसंयोगलक्षवृत्तिरतस्य च ।
भावनिःस्पृहमेतद्धि तत्पदत्यागवर्तिनः ॥'

इति ॥ ९२ ॥

ननु खशब्दस्य स्वरूपाविशेषेऽपि कुतस्त्योऽयं दशधा भिन्नोऽर्थः? इत्याशङ्क्याह

आत्माणुकुलमूलानि
शक्तिर्भूतिश्चिती रतिः ।
शक्तित्रयं द्रष्टृदृश्यो-
परक्तं तद्विवर्जितम् ॥ ९३ ॥
एतत्खं दशधा प्रोक्त-
मुच्चारोच्चारलक्षणम् ।

आत्मा परमात्मा, अणुः संकुचित आत्मा, कुलमूलं प्राणशक्तेः प्रभवस्थानं जन्माधारः, शक्तिर्मध्यमप्राणवाहिनी, भूतिः स्वातन्त्र्यलक्षणमैश्वर्यम्, चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परा संवित्, रतिरासक्तिः, शक्तित्रयं द्रष्टृपरक्ता ज्ञान-

शक्तिर्दृश्योपरक्ता क्रियाशक्तिस्तद्द्विवर्जितेच्छा-शक्तिः, प्रोक्तमिति श्रीत्रिशिरोभैरवे। यदुक्तम्

'खमात्मा केवलं विद्यात् खमणुः सर्वदिक्कतः।
कुलमूलं तु खं ज्ञेयं खं शक्तिः परिपठ्यते॥
एकं तु खमिहोद्धाव्यं खद्वयं भूतिचिद्गतिः।
द्रष्टृदृश्योपरक्तं च शक्तित्रितयं खं विदुः॥
निष्पन्नपरिणामेन खमभूतत्त्वलक्षणम्।'

इति। उच्चारोच्चारलक्षणमिति यथायथं भावना-प्रकर्षेण परसंविदासादकमित्यर्थः॥९३–९४॥

न केवलमत्र खशब्देनैव दशधा भिन्नोऽयमर्थ उच्यते यावच्छब्दान्तरेणापि, — इत्याह

धामस्थं धाममध्यस्थं
धामोदरपुटीकृतम्॥ ९४॥
धाम्ना तु बोधयेद्धाम
धाम धामान्तगं कुरु।
तद्धाम धामगत्या तु
भेद्यं धामान्तमान्तरम्॥ ९५॥

इह खलु योगी 'धाम्नो' भूतेः स्वातन्त्र्यस्य यत् 'उदरं' सतत्त्वं तेन 'पुटीकृतं' सर्वतः संवलितं नित्याविियुक्तम्, अत एव 'धाम्नि' अणौ स्थितं संकुचितात्मतया स्फुरितं 'धाम' आत्मानं बोधयेत् तद्बोधे समर्थमाचरेदित्यर्थः। तत्समर्थाचरणमेवाह 'धाममध्यस्थं धाम धाम्ना धामान्तगं कुरु' इति। 'धाम्नः' कुलमूलस्य जन्माधारस्य मध्ये स्थितं 'धाम' प्राणशक्तिं 'धाम्ना' रत्या तदासक्त्या 'धाम्नः' चितेस्तुर्यातीतपदस्य 'अन्तः' परा काष्ठा तद्गतं कुरु तदेकरूपतया साक्षात्कुर्यादित्यर्थः। 'तत्' तस्मात् परतत्त्वसाक्षात्काराद्धेतोः 'धाम्नो' दृश्योपरक्तायाः क्रियाशक्तेः प्रमेयभुवो गत्या 'धाम' दृष्टूपरक्ता ज्ञानशक्तिः 'भेद्यं' भेदनीयं त्याज्यमित्यर्थः। यथाहि प्रमेयभूः सर्ववादिषु त्याज्यत्वेन सिद्धा तथा प्रमाणभूतमपि ज्ञानं त्याज्यमेवेति भावः। तुशब्दो भिन्नक्रमो हेतौ। ततश्च 'आन्तरं' प्रमात्रैकात्म्यमापन्नं 'धामा-

न्तम्' अन्त्यं धाम द्रष्टृदृश्याद्युपाधिशून्यां स्वविमर्शमात्ररूपामिच्छाशक्तिम् अर्थात् आश्रयेत् येन तत्रैव प्ररोहमियात्,—इति शब्दार्थसंगतिः। वाक्यार्थस्तु प्राग्वत् स्वयमेवाभ्यूह्यः ॥ ९५ ॥

नन्वन्येऽपि परतत्त्वान्तःप्रवेशे बहव उपायाः संभवन्ति तत्कथमस्यैव रहस्यत्वं येन गोपनीयत्वेन निगूढार्थतयैवमुपदेशः ? इत्याशङ्क्याह

भेदोपभेदभेदेन
　　भेदः कार्यस्तु मध्यतः ।

यः पुनरन्यो भेदोपभेदात्मोपायभेदः संभवति स मध्यतः कार्यो मध्यमो नैवं-विध उत्तम इत्यर्थः ॥

एतदेवोपसंहरति

इति प्रवेशोपायोऽय-
　　माणवः परिकीर्तितः ॥ ९६ ॥

---

पं० ६ ख० पु० सन्तीति पाठः ।

पं० ११ क० ग० पु० उत्तम उपाय इति पाठः ।

श्रीमहेश्वरनाथेन
यो हृत्स्थेन ममोदितः ।

न केवलमेतदिहैवोक्तं यावदन्यत्रापि,—इत्याह

श्रीब्रह्मयामले चोक्तं
श्रीमान् रावो दशात्मकः ॥९७॥

स्थूलः सूक्ष्मः परो हृद्यः
कण्ठ्यस्तालव्य एव च ।

सर्वतश्च विभुर्योऽसौ
विभुत्वपददायकः ॥ ९८ ॥

श्रीमानिति विमर्शरूपतया प्रकाशस्यापि जीवितभूतत्वात् । इहास्य परवाग्रूपस्य अहं-विमर्शात्मनो रावस्य प्रथमं तावद्धृदादिभव-त्वात् पश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपतया त्रैविध्यं, प्रत्येकं च स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन त्रैविध्ये नवधा-त्वम्, एषां नवानामपि भित्तिभूतः परवागात्मा दशमः स एव हि स्वस्वातन्त्र्यादेवमवभासयेत्,

अत उक्तं 'सर्वतश्च विभुः' इति । स एव च विश्रान्तिस्थानम्,–इत्युक्तं 'विभुत्वपददायक' इति । एतच्च प्राक्

'तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः ।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद्विभागमवभासयेत् ॥
विभागाभासने चास्य त्रिधा वपुरुदाहृतम् ।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला वैखरीत्यभिशब्दितम् ॥
तासामपि त्रिधा रूपं स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।'(३।२३७)

इत्यादिना

'तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः ।'(३।२४८)

इत्यन्तेन निर्णीतप्रायम्,–इति तत एवैतत्सतत्त्वमवधारणीयम् ॥ ९८ ॥

तदेवमत्रैव परमवधातव्यं येन पारमार्थिकस्वरूपलाभो भवेत्,–इत्याह

जितरावो महायोगी
　संक्रामेत्परदेहगः ।
परां च विन्दति व्याप्तिं
　प्रत्यहं ह्यभ्यसेत तम् ॥ ९९ ॥

तावद्यावद्रावे सा
रावाह्लीयेत राविणी ।

'जित' आक्रान्तो वशीकृत उत्तरोत्तरो रावो येनासावेवंविधो महायोगी अर्थादुत्तरोत्तरत्यागेनोर्ध्वमूर्ध्वं रावं संक्रामेत् येन 'परदेहगो' यथायथमुत्कृष्टोत्कृष्टरावस्वरूपनिष्ठः 'परां व्याप्तिं विन्दति' पारमार्थिकं स्वरूपं लभते इत्यर्थः । यदुक्तम्

'नदते दशधा सा तु दिव्यानन्दप्रदायिका ।
चिनीति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिनीति द्वितीयकः ॥
चीरवाकी तृतीयस्तु शङ्खशब्दश्चतुर्थकः ।
तन्त्रीघोषः पञ्चमश्च षष्ठो वंशरवस्तथा ॥
सप्तमः कांस्यतालस्तु मेघशब्दरवस्तथा ।
नवमो दावनिर्घोषो दशमो दुन्दुभिस्वनः ॥
नव शब्दान् परित्यज्य दशमो मोक्षदायकः ।
अनेन विधिना येन व्याहरेद्दशधा रवम् ॥'

---

पं० १४ क० पु० दाघनिर्घोष इति पाठः ।

इति । अतश्च तावदत्र प्रतिदिनमभ्यासः कार्यो यावत् सा परवागात्मा विमर्शशक्तिस्तत्तद्रावरूपतया प्रस्फुरणात् राविणी रावादेकमेकं रावं विलाप्य विभागविगलनात् 'अरावे' ऽहंपरामर्शरूपे स्वात्मनि 'लीयेत' विश्राम्यतीत्यर्थः ॥ ९९ ॥

एवं परतत्त्वान्तःप्रवेशं निर्णीय तदानन्तर्योद्दिष्टानि तत्पथलक्षणान्यपि लक्षयितुमाह

अत्र भावनया देह-
गतोपायैः परे पथि ॥ १०० ॥
विविक्षोः पूर्णतास्पर्शा-
त्प्रागानन्दः प्रजायते ।
ततोऽपि विद्युदापात-
सदृशे देहवर्जिते ॥ १०१ ॥
धाम्नि क्षणं समावेशा-
दुद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः ।

जलपांसुवदभ्यस्त-
संविद्देहैक्यहानितः ॥ १०२ ॥
स्वबलाक्रमणाद्देह-
शैथिल्यात् कम्पमाप्नुयात् ।
गलिते देहतादात्म्य-
निश्चयेऽन्तर्मुखत्वतः ॥ १०३ ॥
निद्रायते पुरा याव-
न्न रूढः संविदात्मनि ।

अत्र समनन्तरोक्ते उपायविशेषे या 'भावना' अभ्यासस्तया तथोक्तवक्ष्यमाणैरुच्चारकरणादिभिः 'देहगतैरुपायैः परे पथि' परतत्त्वान्तर्वेष्टुमिच्छोर्न तु तत्र प्रविष्टस्य, तस्य हि पूर्णतैव भवेदिति भावः, पूर्णतायाः 'स्पर्शात्' औन्मुख्यमात्रात् न तु तदावेशात् प्रथमम् 'आनन्दः' चमत्कारविशेषः प्रकर्षेण स्वात्मविषयीकारेण 'जायते' अनुभवपदवीमासा-

द्येदित्यर्थः । तत आनन्दादप्यनन्तरं 'विद्यु-
दापातसदृशे' यथा विद्युति पतितायां सर्व
स्वरूपत्यागेन तन्मयीभवति, एवं 'धाम्नि' परे
तत्त्वे समावेशात् प्रस्फुटं कृत्वा देहादावात्म-
ग्रहविगलनेनाधस्तनदशाविश्लेषात् परधामा-
धिरोहात्मक 'उद्भवः प्लुतिः' ऊर्ध्वं गमनं भ-
वेदित्यर्थः । अत एव 'देहवर्जिते' इत्युक्तम् ।
क्षणमिति, चिरस्य हि समावेशे पारिपूर्ण्यमेव
भवेदिति भावः । एवं पांसूदकवदनेकजन्मा-
भ्यस्तस्य संविद्देहैक्यस्य या 'हानिः' विभागेन
ज्ञप्तिः, ततः क्षणं संविदात्मनः स्वस्य यत् 'ब-
लम्' अहन्तालक्षणं वीर्यं तस्य 'आक्रमणात्'
आत्मन्येवाभिमानोदयात् अनात्मन्यात्माभि-
मानः शिथिलीभवेत्, — इति देहादीनां भङ्गु-
रायमाणत्वात् 'कम्पमाप्नुयात्' तत्र दार्ढ्यं
जह्यादित्यर्थः । एवं 'पुरा' पूर्वं प्रथमं देहस्य
संविदैक्याभिनिवेशे निवृत्ते सति संविदौन्मु-
ख्यमात्रात् 'निद्रायते' बाह्यवृत्तिव्युपरमात्

आन्तरस्य च कस्यचिदनुभवस्य स्फुटमनुदयात् निद्रायमाण आस्ते इत्यर्थः । कियत्कालमेवमास्ते ? इत्याह 'यावन्न रूढः संविदात्मनि' इति । तत्रास्य प्ररोहे हि लक्षणान्तरमुदियादिति भावः ॥ १०३ ॥

तदाह

ततः सत्यपदे रूढो
विश्वात्मत्वेन संविदम् ॥ १०४ ॥
संविदन् घूर्णते घूर्णि-
र्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता ।

'ततो' ऽनन्तरं परसंविदात्मनि 'सत्यपदे' प्राप्तप्ररोहः सन् निखिलस्यास्य देहघटाद्यात्मनो जगतः संविदेव सतत्त्वं न पुनस्तदतिरिक्तं नामैतत् किंचित्,— इति साक्षात्कुर्वन् 'घूर्णते' भ्रमति, चलति स्पन्ददशाधिशायी भवेदित्यर्थः । एतद्दशाधिशायिनो हि योगिनः सदैव सृष्टि-

संहारकारित्वेन परं पारमेश्वर्यमुदियात्, — इत्युक्तं 'घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता' इति ॥

॥ १०४ ॥

ननु

'दशावस्थाश्विनोत्यन्तः शक्तितेजोपबृंहितः ।
कम्पो भ्रमस्तथा घूर्णिः प्लवनं स्थिरतापि च ॥
चित्प्रकाशस्तथानन्दो दिव्यदृष्टिश्चमत्कृतिः ।
अवाच्यो दशमो भावः शिवतत्त्वे प्रवेशनात् ॥
संस्पर्शः प्राप्यते यावत्तावन्मुक्तो भवार्णवात् ।'

इत्याद्युक्त्या परतत्त्वान्तर्विविक्षोर्लक्षणान्तराण्यपि संभवन्ति, — इति यावत् तानि नोदितानि तावत्कथमेतावतैव तदनुप्रवेशो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

आत्मन्यनात्माभिमतौ
सत्यामेव ह्यनात्मनि ॥ १०५ ॥
आत्माभिमानो देहादौ
बन्धो मुक्तिस्तु तल्लयः ।

इह खलु द्विधा बन्ध आत्मन्यनात्माभिमानोऽनात्मन्यात्माभिमानश्च, — इति तदेव चाणवं मलमुच्यते। यदाहुः

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥'

(ई० प्र० ३।२।४)

इति। तदेव च कार्ममायीयहेतुत्वात् इयतः संसारस्य मूलभूतम्। यदुक्तम्

'मलः कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम्।'

(स्व० ३।१७६)

इति। अतश्च 'स एष मूले निहितः कुठारः' इतिवत् तत्रैव यतितव्यं येनाशेषबन्धव्युपरमो भवेदिति भावः। तदेवेह प्राधान्येनोक्तम्, अतश्च मुख्यया वृत्त्या स एव बन्धस्तल्लय एव च मुक्तिरिति संक्षेपार्थः॥ १०५॥

तल्लयश्च किमक्रमेणैव भवेदुतान्यथा? इत्याशङ्क्याह

---

पं० ११ क० ख० ग० स एवेति पाठः।

आदावनात्मन्यात्मत्वे
लीने लब्धे निजात्मनि ॥१०६॥
आत्मन्यनात्मतानाशे
महाव्याप्तिः प्रवर्तते ।

प्रथमं हि 'अनात्मनि' देहादावात्माभिमानस्य विलये सति आत्मन्यनात्मत्वाभिमानस्य नाशो भवेत् येन संविल्लक्षणे स्वस्मिन्नेवात्मन्यभिमानोदये सति महाव्याप्तिः प्रवर्तते, परं पारमेश्वर्यमुदियादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

एवं प्रथमं विशिष्टापूर्वस्पर्शोदयात् आनन्दमात्रानुभवो न तु द्विविधस्यापि बन्धस्य व्युपरमः। तदनु देहादावात्माभिमानविगलनेन आत्मन्येवात्माभिमान उदेति किं तु क्षणमात्रं पुनरपि व्युत्थानादौ तादवस्थ्यादनन्तरं देहादावात्माभिमानस्य साक्षाद्विलयः, तदनु तत्संस्कारस्यापि यावदन्ते यथायथमात्मन्येवात्माभिमानस्य प्ररोहान्महती व्याप्तिः प्रवर्तते, — इति

पञ्चभिरेव लक्षणैः पर्याप्तम्,—इति तान्येवोपात्तानि न पुनरन्यानि तेषामत्रैवान्तर्भावात् ॥

॥ १०६ ॥

यदभिप्रायेणैवागमोऽपि,—इत्याह

आनन्द उद्भवः कम्पो
निन्द्रा घूर्णिश्च पञ्चकम् ॥१०७॥
इत्युक्तमत एव श्री-
मालिनीविजयोत्तरे ।

यदुक्तं तत्र

'अनया शोध्यमानस्य शिष्यस्यास्य महामतिः ।
लक्षयेच्चिह्नसंघातमानन्दादिकमादरात् ॥
आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चकम् ।'
(मा० वि० ११।३९।)

इति ॥ १०७ ॥

ननु योगिनःसमग्रलक्षणोदये महाव्याप्तिर्भवेत्,—इत्युक्तं, यदा पुनरेकैकमेव लक्षणमुदियात् तदास्य किं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

प्रदर्शितेऽस्मिन्नानन्द-
प्रभृतौ पञ्चके यदा ॥ १०८ ॥
योगी विशेत्तदा तत्त-
च्चक्रेशत्वं हठाद्व्रजेत् ।

यदा पुनरानन्दप्रभृतौ समनन्तरोक्ते पञ्चके योगी 'विशेत्' युगपत्तत्प्रवेशविरोधात् एकैकमेव लक्षणमनुभवेत् तदास्य हठात् स्वरसत एव तत्र तत्र नियते चक्रे त्रिकोणादावीशत्वं भवेत्, तत्तच्चक्रजयो जायते इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

ननु पूर्णतास्पर्शादेवमनुभवोदयः,—इति पूर्णे सर्वस्य भावात् कथं नैयत्येनैवं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

यथा सर्वेशिना बोधे-
नाक्रान्तापि तनुः क्वचित् ॥ १०९ ॥
किंचित्कर्तुं प्रभवति
चक्षुषा रूपसंविदम् ।

---

पं० ४ ख० पु० हठाद्भवेदिति पाठः ।

तथैव चक्रे कुत्रापि
प्रवेशात्कोऽपि संभवेत् ॥११०॥

यद्वत् सर्वव्यापिना बोधेन 'आक्रान्ता' तदभेदमापन्नापि तनुः क्वचिदेव किंचिदेव कर्तुं प्रभवति चक्षुषा रूपस्यैव न तु गन्धादेः, अर्थात् संनिकृष्ट एव देशे न तु विप्रकृष्टे संविदम्; एवं कुत्रापि त्रिकोणादौ प्रतिनियते चक्रे प्रवेशात् कोऽपि आनन्दादिरेकैक एवानुभवविशेषः संभवेत् न तु सर्वः,—इति युक्तमुक्तं 'तत्तच्चक्रेशत्वं हठाद्व्रजेत्' इति ॥ ११० ॥

ननु किं कस्य चक्रम्? इत्याशङ्क्याह

आनन्दचक्रं वह्न्यश्रि
कन्द उद्भव उच्यते ।
कम्पो हृत्तालु निद्रा च
घूर्णिः स्यादूर्ध्वकुण्डली ॥१११॥

---

पं० ९ क० पु० सर्वेत इति पाठः ।

'वह्न्यश्रि' इति त्रिकोणं योगिनीवक्त्रमित्यर्थः। 'ऊर्ध्वकुण्डली' इति द्वादशान्तः। एषां चाभेदोपचारात् सामानाधिकरण्येन निर्देशः ॥ ॥ १११ ॥

नन्वेषामेवं प्रतिनियमे किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

एतच्च स्फुटमेवोक्तं
श्रीमत्त्रैशिरसे मते।

तत्र चैतत् षष्ठसप्तमयोरेवानन्तप्रमेयपुरःसरीकारेण बहुना ग्रन्थेन कटाक्षितम्, — इति ग्रन्थविस्तरभयात् न संवादितम्, — इति तत एवावधार्यम् ॥

तदेवमियतोपायजातेन समासादनीयस्य परस्य तत्त्वस्य नैमित्तिकं व्यपदेशान्तरमप्यस्ति, — इत्याह

एवं प्रदर्शितोच्चार-
विश्रान्तिहृदयं परम् ॥११२॥

यत्तदव्यक्तलिङ्गं नृ-
शिवशक्त्यविभागवत् ।

'एवम्' उक्तेन प्रकारेण प्रदर्शिता येयमुच्चारादीनां विश्रान्तिः, तस्या यत् 'परं हृदयं' योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यमहंपरामर्शमयं संवित्स्पन्दात्मकं प्रकृष्टं सतत्त्वं तन्नरशक्तिशिवाविभागवत्त्वादव्यक्तलिङ्गमुच्यते, इत्यर्थः ॥ ११२ ॥

नन्वेवं व्यपदेशस्य किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

अत्र विश्वमिदं लीन-
मत्रान्तःस्थं च गम्यते ॥११३॥
इदं तल्लक्षणं पूर्ण-
शक्तिभैरवसंविदः ।

चशब्दो भिन्नक्रमो हेतौ । यतो 'ऽत्र' अहंपरामर्शमये परस्मिन् हृदये नरशक्तिशिवात्मकम् 'इदं विश्वं लीनम्' अविभागेनावस्थितम्, –

इति यावत् । न चैतज्जतुकाष्ठवत् अपि तु क्षीरनीरवदित्युक्तम् 'अत्रान्तःस्थं च गम्यते' इति, ऐकात्म्यमापन्नं सत् प्रतीयते इत्यर्थः । इदमेव हि तन्निरूपितस्वरूपायाः परस्याः संविदो लक्षणं यत् तत एव विश्वमुदेति तत्रैव च विलीयते इति । यदुक्तम्

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥'

इति ॥ ११३ ॥

नन्विह त्रिविधं लिङ्गमुक्तं व्यक्तं व्यक्ताव्यक्तमव्यक्तं च,—इति, तत्राव्यक्तं परैव संवित्,—इत्युक्तम् । अन्यद्द्वयं पुनः किं तस्या एव स्फारो न वा ? इत्याशङ्क्याह

देहगाध्वसमुन्मेषे
　　समावेशस्तु यः स्फुटः ॥ ११४ ॥
अहन्ताच्छादितोन्मेषि-
　　भावेदंभावयुक् स च ।

व्यक्ताव्यक्तमिदं लिङ्गं
मन्त्रवीर्यं परापरम् ॥ ११९ ॥
नरशक्तिसमुन्मेषि
शिवरूपाद्विभेदितम् ।

'देहगाध्वसमुन्मेषे' देहादावात्माभिमाने सत्यपि यः पुनरपरिम्लानः परतत्त्वान्तःसमावेशः तदिदं व्यक्ताव्यक्तं लिङ्गम्,—इति संबन्धः। ननु यद्येवं तदव्यक्तादस्य को विशेष ? इत्याशङ्क्याह अहन्तेत्यादि। अहन्ताच्छादित 'उन्मेषिषु' बहिरुल्लसत्सु भावेषु योऽसौ 'इदंभाव' इदन्ता तेन युज्यते, इदमहमिति-प्रतीतिरूप इत्यर्थः। अत एवास्य विद्यादशावदहन्तेदन्तयोः सामानाधिकरण्यात् व्यक्ताव्यक्तत्वम्, अत एव शुद्धाहंपरामर्शरूपत्वाभावात् शिवरूपाद्विभेदितं सत् नरशक्तिभ्यां समुन्मेषणशीलं, नरशक्तिरूपमिति यावत्। एवमपि परापरं शक्तिप्रधानमित्यर्थः। नरप्रधानं हि व्यक्तं

लिङ्गं भविष्यतीत्याशयः। अत एव मन्त्रवीर्यम्। एतद्दशामधिशयानो हि मन्त्रः स्वोचितफलदान-सामर्थ्यभाग्भवतीति भावः। यदुक्तम्

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।
पुंस्तत्त्वे जडतामेति परे तत्त्वे तु निष्फलः॥
शक्तौ मन्त्रो नियुक्तस्तु सर्वकर्मफलप्रदः।'

इति ॥ ११५ ॥

न केवलं व्यक्ताव्यक्तमेव लिङ्गमस्याः स्फारो यावत् व्यक्तमपि, — इत्याह

यन्न्यक्कृतशिवाहन्ता-
समावेशं विभेदवत् ॥११६॥
विशेषस्पन्दरूपं तद्
व्यक्तं लिङ्गं चिदात्मकम्।

यन्नाम गुणीकृतपराद्वयरूपाहन्तापरामर्शम्, अत एव 'विभेदवत्' बहीरूपतया स्फुरत् विशेषस्पन्दरूपम्, — इति विमर्शनं तद्व्यक्तं लिङ्गमुच्यत इत्यर्थः। एवमपि चिदात्मकम्, अन्यथा हि एतन्न किंचिद्भवेदिति भावः ॥ ११६ ॥

न केवलमेषां स्वरूपत एव भेदो यावत् फलतोऽपि,—इत्याह

व्यक्तात्सिद्धिप्रसवो
व्यक्ताव्यक्ताद्द्वयं विमोक्षश्च ।
अव्यक्ताद्बलमाद्यं
परस्य नानुत्तरे त्वियं चर्चा ११७

यदुक्तम्

'प्रतिमापूजनाद्भुक्तिर्मुक्तिर्लिङ्गार्चनात् सदा ।
मुखलिङ्गार्चनात्पुंसां भुक्तिमुक्ती प्रसिद्ध्यतः ॥'

इति । 'बलमाद्यं परस्य' इति अव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तस्य तद्व्यक्तस्य । ननु यद्येवं तदेतद्भित्तिभूते सर्वसर्वात्मकेऽनुत्तरे धाम्नि पुनः का वार्ता? इत्याशङ्क्याह 'नानुत्तरे त्वियं चर्चा' इति । तत्र हि पारिपूर्ण्येन नैराकाङ्क्ष्योत्पादात् को नाम सिद्ध्यादिप्रविभागः,—इति भावः ॥११७॥

नन्वाद्यमेव परस्य विश्रान्तिस्थानं न तु विपर्ययः,—इत्यत्र किं निबन्धनम्? इत्याशङ्क्याह

आत्माख्यं यद्व्यक्तं
　　नरलिङ्गं तत्र विश्वमर्पयतः ।
व्यक्ताव्यक्तं तस्मा-
　　द्गलिते तस्मिंस्तदव्यक्तम् ॥११८

यन्नाम समनन्तरोक्तस्वरूपं नरप्रधानत्वात् आत्माख्यमिदंविमर्शास्पदं व्यक्तं लिङ्गं तत्र आत्माख्ये लिङ्गे 'यदिदं तदहमेव' इत्येवंरूपतया विश्वं विलापयतो योगिनोऽहन्तेदन्तयोः सामानाधिकरण्येन स्फुरणात् व्यक्ताव्यक्तं लिङ्गं, तस्माद्व्यक्ताव्यक्तादपि लिङ्गात् तस्मिन् विश्वस्मिन् 'गलिते' ऽहंपरामर्शशेषतामापन्ने तदव्यक्तं लिङ्गं भवेदित्यर्थः ॥ ११८ ॥

नन्वनेन किमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

तेनात्मलिङ्गमेतत्
　　परमे शिवशक्त्यणुस्वभावमये ।
अव्यक्ते विश्राम्यति
　　नानुत्तरधामगा त्वियं चर्चा ११९

इत्थम् 'एतत्' नरप्रधानं व्यक्तमात्मलिङ्गम् अर्थात् नरशक्तिप्रधाने व्यक्ताव्यक्ते लिङ्गे विश्रान्तिमासाद्य, शिवप्राधान्येऽपि गर्भीकृतावान्तररूपत्वात् नरशक्तिशिवात्मनि, अत एव 'परमे' लिङ्गान्तरवैलक्षण्यादुत्कर्षभाजि अव्यक्ते लिङ्गे 'विश्राम्यति' तत्तादात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः। ननु यथा व्यक्तादिलिङ्गद्वयमव्यक्ते विश्राम्यति तथैव तदप्यनुत्तरे धाम्नि,—इति कस्मान्नोक्तम्? इत्याशङ्क्याह 'नानुत्तरधामगा त्वियं चर्चा'—इति। तद्धि अनुत्तरमेव धामाव्यक्तादिलिङ्गत्रयात्मना प्रस्फुरति,—इति सदैव तत्र तद्विश्रान्तमन्यथा ह्यस्य भवनमेव न स्यात्॥ ११९॥

अत एवाह

**एकस्य स्पन्दनस्यैषा**
**त्रैधं भेदव्यवस्थितिः।**

---

पं० १२ ख० पु० भावनामिति पाठः।

इह खलु 'एकस्य' प्रधानस्यानुत्तरात्मनो योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यस्य 'स्पन्दनस्यैषा' व्यक्तादिलिङ्गात्मिका त्रिविधेन भेदेन 'व्यवस्थितिः' परिस्फुरणं न तु तदतिरिक्तमेतत् किंचिदित्यर्थः ॥

अतश्च व्यक्तादिलिङ्गपरिहारेणात्रैव विश्रान्तिः कार्या, — इत्याह

अत्र लिङ्गे सदा तिष्ठेत
पूजाविश्रान्तितत्परः ॥ १२० ॥

यदुक्तम्

'मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ॥
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः ।'

(मा० वि० १८।४२)

इति ॥ १२० ॥

नन्वत्र विश्रान्त्या किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

पं० ३ ख० पु० लिङ्गाद्यात्मिकेति पाठः ।

योगिनीहृदयं लिङ्ग-
मिदमानन्दसुन्दरम् ।
बीजयोनिसमापत्त्या
सूते कामपि संविदम् ॥ १२१ ॥

इदं स्पन्दनात्म योगिनीहृदयाभिधेयमानन्दमयं लिङ्गं बीजयोन्यात्मकशिवशक्त्यैकात्म्येन 'कामपि संविदं सूते' परसंविदावेशमाविष्कुर्यादित्यर्थः । अथ च चर्याक्रमेणाप्येवं परसंविदनुप्रवेशो भवेदित्यपि कटाक्षितम् । यदुक्तम्

'त्रिकोणमण्डलं पूज्यं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
तन्मध्ये चेतनं चिन्त्यं लिङ्गं वै पश्चिमामुखम् ॥'

इति । तथा

'आनन्दस्यन्दि यद्गीतं सर्वप्रसवकारणम् ।
उपस्थाख्येयमेतत्तु सौषुम्नं रूपमुच्यते ॥'

इति ॥ १२१ ॥

पं० ९ ख० पु० संविदावेश इति पाठः ।

नन्वत्रैव विश्रान्त्या कथमेवं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अत्र प्रयासविरहा-
त्सर्वोऽसौ देवतागणः ।
आनन्दपूर्णे धाम्न्यास्ते
नित्योदितचिदात्मकः ॥ १२२ ॥

यदुक्तम्

'त्रिकोणे देवताः सर्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।'

इति ॥ १२२ ॥

न केवलमत्र सर्व एव देवतागण आस्ते यावत् पारमेश्वरी शक्तिरपि, – इत्याह

अत्र भैरवनाथस्य
ससंकोचविकासिका ।
भासते दुर्घटा शक्ति-
रसंकोचविकासिनः ॥ १२३ ॥

---

पं० १३ क० ख० ग० स्वसंकोचेति पाठः ।

अत्रानन्दपूर्णे धाम्नि 'असंकोचविकासिनो' निस्तरङ्गजलधिप्रख्यस्य पूर्णस्य प्रकाशस्य 'स-संकोचविकासिका' सदैव सृष्टिसंहारमयी, अत एव दुर्घटकारिणी स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः 'भासते स्वात्मैकात्म्येन प्रथते, यन्माहात्म्यादियान् विश्वस्फारः सदैव सृष्टिसंहारदशाधिशायितामेतीत्यर्थः ॥ १२३ ॥

तदाह

एतल्लिङ्गसमापत्ति-
विसर्गानन्दधारया ।
सिक्तं तदेव सद्विश्वं
शश्वन्नवनवायते ॥ १२४ ॥

एतस्मिन्ननुत्तरधामात्मनि समनन्तरोक्ते 'लिङ्गे समापत्तिः' ऐकात्म्यं यस्यैवंविधो यो 'विसर्गः' स्वातन्त्र्याख्या कौलिकी शक्तिस्तस्य या 'आनन्दधारा'

'विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात् ।
स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ॥'
( तं० ३।१४४ )

इत्याद्युक्त्यानन्दोदयक्रमेणोच्छलन्त्या तया 'सिक्तं' बहिरुच्छूनतामापादितं सत् तत्कालमेव शश्वद्विश्वं 'नवनवायते' सदैव सृष्टिसंहारपात्रतामासादयतीत्यर्थः । अथ च चर्याक्रमेण एतयोर्वज्रपद्मादिशब्दव्यपदेश्ययोर्लिङ्गयोः 'समापत्त्या' संभोगेन विसर्गरूपा येयमानन्दधारा तया 'सिक्तं' दत्तबीजं सत् स्त्रीपुमाद्यात्म विश्वमनवरतमुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

ननु भेदप्राणविकल्पसंस्काराधायित्वाद्बुद्धिध्यानादीनां स्पष्टमेवाणवोपायत्वम्, — इति युक्तमत्र तदभिधानं, परतत्त्वान्तःप्रवेशलक्षणः पुनरयमुपायो निर्विकल्पस्वरूपत्वान्न तथा, — इति कथमस्यात्राभिधानम्? इत्याशङ्क्याह

पं० १२ क० पु० बुध्यादीनामिति पाठः ।

अनुत्तरेऽभ्युपायोऽत्र
　　तादूप्यादेव वर्णितः ।
ज्वलितेष्वपि दीपेषु
　　घर्मांशुः किं न भासते ॥१२५॥

'अत्र' आणवोपायप्रकाशनपरेऽप्याह्निके साक्षादनुत्तरनिमित्तं परतत्त्वान्तःप्रवेशात्मायम् 'अभ्युपायस्ताद्रूप्यात्' अनुत्तराभ्युपायरूपत्वादेवोक्तः । अत्र दृष्टान्तः, यथा तत्तदर्थप्रकाशनाय परिमितप्रकाशेषु दीपादिषु सत्स्वपि महाप्रकाशस्य घर्मांशोरवस्थाने न कश्चिद्दोषः, एवमत्रापीति तात्पर्यार्थः ॥ १२५ ॥

नन्वेवं त्रयाणामप्याणवादीनामुपायानां सांकर्येणैवोपदेशः कार्यः, —इति किं पृथक् पृथगाह्निकपरिकल्पनेन ? इत्याशङ्क्याह

अर्थेषु तद्भोगविधौ तदुत्थे
　　दुःखे सुखे वा गलिताभिशङ्कम् ।

अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता
जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः॥१२६

'अर्थेषु' नीलादिषु 'तद्भोगविधौ' नीलादिबुद्धौ 'तदुत्थे' नीलादिकृते दुःखे सुखे वेत्येवमर्थक्रियापर्यन्तं प्राप्तप्रतिष्ठाने वाह्येऽर्थजाते 'निमग्नचित्ताः' तत्तद्धानादानादि कुर्वाणा अपि तत्र 'गलिताभिशङ्कमनाविशन्तः' स्वप्नार्थवदसदेवेदमिति निःसंदेहं तद्वैवश्यमभजमाना योगिनो वृत्तिक्षयसौख्यमन्तर्जानन्ति

'अन्तर्लक्ष्यो वहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या वहिस्तत्तद्व्यवहारपरत्वेऽपि स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परं चमत्कारातिशयमनुभवन्तीत्यर्थः । अतश्च भेदमयत्वेऽप्यभेदरूपत्वमस्य,—इत्यामुखे भेदस्यावस्थानादिहैतदभिधानम्,—इति न कश्चिद्दोषः । एतदेव हि

---

पं० १२ क० पु० अभेदमयत्वमस्येति पाठः ।

योगिनः परं विस्फूर्जितं यद्भेदमयत्वेऽप्यभेदरूपतयावस्थानमिति ॥ १२६ ॥

तदाह

सत्येवात्मनि चित्स्वभावमहसि
स्वान्ते तथोपक्रियां
तस्मै कुर्वति तत्प्रचारविवशे
सत्यक्षवर्गेऽपि च ।
सत्स्वर्थेषु सुखादिषु स्फुटतरं
यद्भेदवन्ध्योदयं
योगी तिष्ठति पूर्णरश्मिविभव-
स्तत्तत्त्वमाचीयताम् ॥ १२७ ॥

इह खलु चित्स्वभावत्वादर्कादिप्रकाशविलक्षणे परप्रमातृरूपे पूर्णे आत्मन्येव सति स्वात्मसाक्षात्कारावसरे चिदेकरूपत्वादविभागतया तथा 'तस्मै' निरूपितस्वरूपायात्मने

---

पं० ४ ख० पु० सत्ये स्वात्मनि इत्ययं पाठः पाठान्तरत्वेनोपन्यस्तः ।

संकुचत्तावभासनेन नियतज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणाम् 'उपक्रियां' कुर्वति 'स्वान्ते'ऽन्तःकरणवर्गे सति बुद्धिप्रमातृदशायामासूत्रितविभागतया तथा 'तस्य' स्वान्तस्य योऽसौ 'प्रचार' इत्थमहमिदं वेद्मीत्याद्यात्म प्रकृष्टं चरणं 'तद्विवशे' तदायत्ते इत्यर्थः। यन्नाम न हि बुद्ध्यादावुपारूढं तत्र बाह्येन्द्रियाणि किं विदध्युरित्यभिप्रायः। एवं-रूपे चक्षुरादीन्द्रियकलापे सति देहादिप्रमातृ-दशायां विभक्ततया विद्यमानेषु सुखादिषु इष्टानिष्टरूपेष्वर्थेषु, — इत्येवमभेदभेदाभेदभे-दात्मनि कक्ष्यात्रयेऽपि स्फुटतरं कृत्वा 'भेद-वन्ध्योदयं' निर्विशेषं यद्योगी तिष्ठति तदेव नाम भैरवमुद्रानुप्रवेशात्म 'तत्त्वं' पारमार्थिकं रूप-माचीयतां, ग्राह्यग्राहकाद्यात्मकबाह्यक्षोभमय-त्वेऽपि तदासङ्गमपहाय स्वात्ममात्रनिष्ठ एवाव-तिष्ठेतेत्यर्थः। अत एव बाह्याकाङ्क्षासंक्षयात्

---

पं० २ ख० पु० उपस्क्रियामिति पाठः।

सदैव प्रक्षीणनिखिलेन्द्रियवृत्तितया 'पूर्णरश्मिविभव' इत्युक्तम् । यद्गीतम्

'वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमव्ययमश्नुते ॥' (गी० ५।२१)

इति ॥ १२७ ॥

एवमेतदुपसंहृत्य तदानन्तर्येणोद्दिष्टस्य करणस्य प्रविवेचनं प्रतिजानीते

इत्युच्चारविधिः प्रोक्तः
करणं प्रविविच्यते ।

उच्चार एव हि प्राणचिदात्मना प्रथमं द्विविधः । तत्र चिदात्मापि चित्प्राधान्येन विमर्शप्राधान्येन च भवन् द्विधा भवति,—इति स एव त्रिविधः । तत् परतत्त्वान्तःप्रवेशात्मनोऽप्युपायस्य तद्भेदत्वादुच्चारात्मकत्वमेव,— इति युक्तमुपसंहृतम् 'उच्चारविधिः प्रोक्त' इति ॥

पं० ७ क० पु० प्रतिवेचनमिति पाठः ।

तच्च करणं न स्वोपज्ञमेवास्माभिः क्रियते,—इत्याह

तच्चेत्थं त्रिशिरःशास्त्रे
　　परमेशेन भाषितम् ॥ १२८ ॥
ग्राह्यग्राहकचिद्व्याप्ति-
　　त्यागाक्षेपनिवेशनैः ।
करणं सप्तधा प्राहु-
　　रभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥ १२९ ॥
तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे
　　करणं स्वप्रतिष्ठता ।

'चित्' संवित्तिः 'निवेशनं' संनिवेशः । इह ग्राह्यादिभिः सप्तभिः प्रकारैर्भिन्नं करणं नाम बोधपूर्वकमभ्यासं प्राहुः, बोध्यन्यग्भावेन स्वात्मैकतानतामापन्नं बोधमेव कथितवन्त इत्यर्थः । तद्धि करणं

'सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥'
(ई० प्र० ४।१।१२)

इत्याद्युक्तनीत्या व्याप्तिपूर्वं विश्वस्याक्षेपे 'स्वप्रतिष्ठता' स्वात्मन्येव विश्रान्तिरित्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'ग्राह्यं च ग्राहकं चैव संवित्तिं च तृतीयिकाम् ।
संनिवेशं तथा व्याप्तिमाक्षेपं त्यागमेव च ॥
करणं सप्तधा ख्यातमभ्यासं बोधपूर्वकम् ।
तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे करणं स्वप्रतिष्ठता ॥'

इति । ग्राह्यादीनां च तत्रैव

'ग्राह्यस्वरूपविज्ञानं द्रव्यत्वे यद्व्यवस्थितम् ।
व्यक्तिनिष्ठं तु मन्तव्यं ग्राहकं तु स्फुटार्थकम् ॥
ग्राहयेच्चित्स्वरूपं तु व्यक्ताव्यक्तविचारकम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च ग्रहीता गोलकस्थितिः ॥
गोलकं द्वारमित्युक्तं मनसा बाह्यतां ततः ।
न जहाति न गृह्णाति ग्रहीता ग्राहकः स्मृतः ॥
लक्ष्यलक्षसमायोगात् प्रतिज्ञावस्तुयोगतः ।

---

पं० ४ क० पु० पूर्वकमिति पाठः ।
पं० १६ क० पु० बाह्यतोऽन्तत इति पाठः ।

उभयोर्नान्यविश्लेषं यथैवानुभवं स्मृतम् ॥
विचार्यमाणं यत्किंचित्स्वरूपविभवात्मकम् ।
संनिवेशं तु तज्ज्ञेयं तद्व्याप्तिरभिधीयते ॥
स्वरूपस्थितिभावस्य एकदेशगतस्य च ।
घोणार्चिःप्रविकासं तु स्थानात्स्थानपदक्रमात् ॥
ज्ञायते वस्तुबोधज्ञस्त्रिप्रकारेण वस्तुनि ।
व्याप्तिस्तु कथिता सा तु सर्वज्ञा सर्वगा परा ॥
अनुभूय स्वरूपं तु निवृत्तिं नैव गच्छति ।
ज्ञानभेदपदप्राप्त्या अत्याक्षेपगमात्मनः ॥
स्वरूपं चिन्त्यमानोऽपि ग्राह्यप्राकारधर्मधीः ।
त्यजेत्पूर्वपदाद्भेदात् त्यागं तु परिकीर्तितम् ॥
पदस्थस्त्यागभागी च संवृतात्मपरस्य च ।
आक्षेपं तं विजानीयात्सर्वत्रावस्थितं प्रिये ॥'

इत्यादिना स्वरूपमुक्तम् ॥ १२९ ॥

नन्विहैतन्निर्भज्य कस्मान्नोक्तं किमागमपाठमात्रेण ? इत्याशङ्क्याह

गुरुवक्त्राच्च बोद्धव्यं
करणं यद्यपि स्फुटम् ॥ १३० ॥

---

पं० ८ क० पु० निर्वृत्तिमिति पाठः ।
पं० ९ ख० पु० ज्ञानाभेदेति पाठः ।

तथाप्यागमरक्षार्थं
तदग्रे वर्णयिष्यते ।

इह यद्यप्यनुभवैकगोचरत्वात् करणस्वरूपं गुरुमुखादेव स्फुटमवगन्तव्यं तथाप्यागमार्थो मा विच्छेदीत्येतदग्रे 'वर्णयिष्यते' अन्तरान्तरा पुरस्ताच्चर्चयिष्यते इत्यर्थः । तथाहि

'अर्थस्य प्रतिपत्तिर्या ग्राह्यग्राहकरूपिणी ।
सा एव मन्त्रशक्तिस्तु वितता मन्त्रसंततौ ॥'
(तं० १६।२९३)

इत्यादिना षोडशाह्निके ग्राह्यग्राहकयोः ।

'यत्तु सर्वाविभागात्म स्वतन्त्रं बोधसुन्दरम् ।
सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहुस्तत्त्वं परशिवाभिधम् ॥'
(तं० ११।२१)

इत्यादिनैकादशाह्निके संवित्तेः ।

'इह किल दक्कर्मेच्छाः शिव उक्तास्तास्तु वेद्यखण्डलके ।' (तं० १५।३३८)

इत्यादिना पञ्चदशाह्निके व्याप्तेः ।

' एवं त्रिविधविसर्गावेशसमापत्तिधाम्नि य उदेति ।
संवित्परिमर्शात्मा ध्वनिस्तदेव मन्त्रवीर्यं स्यात् ॥ '
( तं० २९।१४० )

इत्यादिना

' यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसंचयाः ।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम् ॥ '
( तं० २९।१७२ )

इत्यादिना चैकान्नत्रिंशाह्निके त्यागस्याक्षेपस्य च तत्तन्मुद्रास्वरूपनिरूपणद्वारेण द्वात्रिंशाह्निके संनिवेशस्य स्वरूपं वक्ष्यति,—इति तत एवैतत्सतत्त्वं स्वयमेवावधारणीयम् । एवं च व्यावर्णनेऽस्यायमभिप्रायो यदेकप्रघट्टकेनैव रहस्यार्थोपदेशो न न्याय इति । यदुक्तमनेनैवान्यत्र

' नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यं न च सर्वथा गोप्यम्
इति हि अस्मद्गुरवः । '

इति । तदस्माकमपि एवं-व्याख्याने श्रीमदभिनवगुप्तपादा एव प्रमाणम्,—इति नात्र विद्वद्भिरस्मभ्यमसूयितव्यम् ॥ १३० ॥

---

पं० २ क० पु० परामर्शेति, तथा तदेवेहेति पाठः ।

एवं करणस्वरूपमुट्टङ्क्य तदनन्तरोद्दिष्टं वर्ण-तत्त्वं वक्तुमुपक्रमते

उक्तो य एष उच्चार-
स्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः १३१
अव्यक्तानुकृतिप्रायो
ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ।

य एष प्राणात्मा प्रागुच्चार उक्तस्तत्र स्फुरन् स्थितः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥' (स्व० ७।६७)

इत्याद्युक्त्या स्वरसत एवोच्चरन् । तथा

'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥' (तं० ६।२१६)

इत्यादिवक्ष्यमाणयुक्त्या सर्ववर्णाविभागस्वभा-वत्वादव्यक्तप्रायो योऽसावनाहतरूपो नादः स वर्णोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्वर्ण उच्यते वर्णशब्दाभि-धेयो भवेदित्यर्थः ॥ १३१ ॥

नन्वेवं-विधोऽयं वर्णः कुत्रोपलभ्यते? इत्याशङ्क्याह

सृष्टिसंहारबीजं च
　　तस्य मुख्यं वपुर्विदुः ॥ १३२ ॥

तस्य च सृष्टिबीजं संहारबीजं चेति बीजद्वयं 'मुख्यं वपुः' प्रधानमभिव्यक्तिस्थानमित्यर्थः ॥ १३२ ॥

नन्वेवमस्य परिज्ञानेन किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

तदभ्यासवशाद्याति
　　क्रमाद्योगी चिदात्मताम्।

तच्छब्देन सृष्टिबीजादावभिव्यज्यमानो नादः परामृष्टः ॥

तदेवोपपादयति

तथा ह्यनच्के साच्के वा
　　कादौ सान्ते पुनःपुनः ॥ १३३ ॥

स्मृते प्रोच्चारिते वापि
सा सा संवित्प्रसूयते ।

इह हि

'........द्विजमाद्यमजीवकम् ।' ( मा० त्रि० १७।२९ )

इत्याद्युक्तेः 'अनच्के' स्वररहिते

'वामजङ्घान्वितो जीवः........।' ( मा० वि० ३।५४ )

इत्याद्युक्त्या 'साच्के' स्वरसहिते च ककारादिसकारान्ते वर्णकलापे पुनःपुनरुच्चारिते स्मृतेऽपि वा सा सा मर्मनिकृन्तनाप्यायनादिरूपा परस्परविलक्षणा 'संवित्' अनुभवो जायते । तेन सृष्टिबीजादावभिव्यज्यमानं नादं पौनःपुन्येनोच्चारयन् स्मरन् वापि योगी चिदैकात्म्यमनुभवेत्, — इति युक्तमुक्तं 'तदभ्यासवशाद्याति क्रमाद्योगी चिदात्मताम्' इति ॥१३३॥

न केवलं वाच्यार्थाव्यतिरेकिणो लोकोत्तरा मात्रा वर्णा एवं यावल्लौकिका अपि, — इत्याह

बाह्यार्थसमयापेक्षा
घटाद्या ध्वनयोऽपि ये ॥ १३४ ॥
तेऽप्यर्थभावनां कुर्यु-
र्मनोराज्यवदात्मनि ।

वस्तुवृत्तेनासंभाविनं बाह्यं पृथुबुध्नोदरादि-रूपम् 'अर्थम्' उत्तमवृद्धादिना कल्पितमिद-मस्याभिधेयमित्येवमात्मकं 'समयं' चापेक्ष-माणा अपि ये घटाद्याः शब्दास्ते स्ववाच्यार्थ-वार्तामात्रानभिज्ञा अपि आत्मन्यर्थादुच्चारिताः स्मृता वा पृथुबुध्नोदरादेरर्थस्य 'भावनां' सा-क्षात्कारं मनोराज्यवदिति, यथा स्वोत्प्रेक्षाविक-ल्पादौ कान्तादिशब्दाः कामशोकादिना भा-व्यमानास्तत्रासंनिहितस्यापि कान्तादेरर्थस्य कुर्युः, एवं संभाव्यते इत्यर्थः । एवं समया-दिनिरपेक्षाणां संविदैकात्म्येन वर्तमानानां मात्राणां वर्णानां पुनरेवंसंभावने का नाम शङ्का भवेदिति भावः ॥ १३४ ॥

आगमोऽप्येवमित्यर्थद्वारेणाह

तदुक्तं परमेशेन
भैरवो व्यापकोऽखिले ॥ १३५ ॥
इति भैरवशब्दस्य
संततोच्चारणाच्छिवः ।

'भैरव' इति निरुक्तदृष्ट्या सर्वं भ्रियाद्धारयति पुष्णाति रचयति अन्तर्बहिर्वा करोति सृष्टिस्थितिसंहारकृत् अखिले व्यापकः सकलजगत्क्रोडीकारेण भरितत्वात् पूर्ण,—इत्येवमात्मव्याप्तिगर्भीकारेण भैरवशब्दस्य पौनःपुन्येन 'उच्चारणात्' मध्यधाम्नि हृदयात् द्वादशान्तं यावत्परामर्शनाच्छिवो भवेत्, भैरवैकात्म्यमनुभवेदित्यर्थः । उक्तमिति श्रीविज्ञानभैरवे । यदुक्तं तत्र

'भ्रियात्सर्वं रचयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः ॥'

(वि० भै० ११३ श्लो० )

इति ॥ १३५ ॥

---

पं० १४ क० पु० सर्वं रचयतीति पाठः ।

ननु यदि नामैवमुच्चारणाद्भवेत् तदस्तु, स्मरणात् पुनरेतत् कथम्? इत्याशङ्क्याह

श्रीमत्त्रैशिरसेऽप्युक्तं
मन्त्रोद्धारस्य पूर्वतः ॥ १३६ ॥

मन्त्रोद्धारस्य पूर्वत इति,

'अधुना श्रोतुमिच्छामि मन्त्रोद्धारस्य लक्षणम् ।'

इति भगवत्या प्रश्ने कृते हि तत्समाधानमारभमाणेन भगवतैतत्स्मरणस्वरूपं प्रथमतरमेवोक्तमित्यर्थः । एतदेव हि विचार्यमाणं मन्त्राणां परं वीर्यमिति भावः । यदुक्तमनेनैव सूत्रविमर्शिन्याम्

'तत एव सकलसिद्धिवितरणचतुरचिन्तामणिप्रख्यमागमिकाः स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते ।'
( ई० प्र० वि० १।४।१ )

इति ॥ १३६ ॥

तदेव पठति

स्मृतिश्च स्मरणं पूर्वं
सर्वभावेषु वस्तुतः ।
मन्त्रस्वरूपं तद्भाव्य-
स्वरूपापत्तियोजकम् ॥ १३७ ॥

इह अनुभवप्रत्यभिज्ञादिप्रत्ययान्तरवैलक्षण्ये-नोज्जृम्भमाणं 'स' इति प्रत्यवमर्शनात्मकम-नुभूतार्थप्रकाशासंप्रमोषणरूपं 'स्मरणं स्मृतिः' तद्रूपा पारमेश्वरी शक्तिरित्यर्थः । तच्च वाच्य-वाचकात्मकेषु स्फुरत्सु भावेषु 'पूर्वम्' उपा-दित्सादिपूर्वकोटाववश्यभावि, अन्यथा हि

'स्मरणादभिलाषेण(पेन) व्यवहारः प्रवर्तते ।'

इत्यादिनीत्या तन्मूलः समग्र एव व्यवहार उत्सीदेत् । पूर्वमनुभूतोऽर्थ इदानीं नास्तीति निर्विषयत्वात् स्मृतिरेव नोल्लसेत्; अस्तित्वे वा तस्यानुभव एव भवेत्, —इति कथं तन्मूलोऽयं व्यवहारः सिद्ध्येदित्याशङ्कयोक्तं 'वस्तुतो मन्त्र-

पं० १३ क० पु० अनुभूतेऽर्थे इति पाठः ।

स्वरूपम्' इति। तद्धि स्मरणं वस्तुवृत्तेन मन्त्रयति स्वाभेदेन विश्वं परामृशति,—इति 'मन्त्रः' परः प्रमाता तस्य स्वरूपं तदेकविश्रान्तमित्यर्थः। नन्वेमपि किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह 'तद्भाव्यस्वरूपापत्तियोजकम्' इति। यतस्तत्परप्रमात्रात्म मन्त्रस्वरूपं 'भाव्यस्य' अनुभवनीयस्य घटादेरर्थस्य 'स्वरूपापत्तिः' स्वात्मसात्कारस्तत्र योजयति, तथात्वेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः। यदि नाम हि तदविभागेन निखिलमिदमनुभूतं वस्तु न संभवेत् तत् स्मरणमेत्र न भवेदिति भावः। यदुक्तम्

'सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्था-
स्त्वदात्मसात्कारसुरक्षिताः स्युः।
विज्ञातवस्त्वप्रतिमोषरूपा
काचित् स्मृतिर्नाम न संभवेत्तत्॥'

इति॥ १३७॥

तामेव विशिनष्टि

स्मृतिः स्वरूपजनिका
सर्वभावेषु रञ्जिका ।
अनेकाकाररूपेण
सर्वत्रावस्थितेन तु ॥ १३८ ॥
स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः
संवित्तिः परमार्थतः ।
व्यक्तिनिष्ठा ततो विद्धि
सत्ता सा कीर्तिता परा ॥१३९॥

यतः सा स्मृतिः 'व्यक्तिः' अर्थप्रकटनात्मा प्राच्योऽनुभवः 'तन्निष्ठा' तद्भेदमापन्ना सती स्वस्येदानीन्तनकालावच्छिन्नस्य रूपस्य 'जनिका' स्मर्यमाणार्थावभासिकेत्यर्थः । प्राच्यस्यैव ह्यनुभवस्येदानीन्तनकालावच्छेदेन पुनरुन्मेषो नाम स्मरणम्, अत एव पूर्वापरोभयकालावलम्बनेनौचित्योपनतः 'स' इति परामर्शोऽस्य परमार्थः । नन्वेवमपि स्मृतेर्विकल्प-

पं० १५ ख० ग० पु० लम्बनौचित्येति पाठः ।

विशेषत्वात् निर्विषयत्वेन कथमर्थावभासकत्वमित्युक्तं 'सर्वभावेषु रञ्जिका' इति 'अनेकाकाररूपेण सर्वत्रावस्थितेन तु' इति। सा हि 'सर्वत्र' सर्वेषु पूर्वावभातेषु घटादिषु भावेष्वर्थितादिवशाद्घटकाञ्चनद्रव्यत्वाद्यात्मकेन 'अनेकेनैवाकारेण' कदाचिदपि स्वालक्षण्यात् स्वस्वरूप एवावस्थितेन घटाभासमात्राद्यात्मना 'रञ्जिका' स्वकाले स्फुटमेवावभासिकेत्यर्थः। यदुक्तम्

'भासयेच्च स्वकालेऽर्थान्पूर्वाभासितमामृशन्।
स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना॥'
(ई० प्र० १।४।२)

इति। एवं प्राच्यस्यानुभवस्य स्मृत्यभेदेनैवावभासात् स्मृत्यनुभवयोरैक्यं सिद्धम्,—इति सा स्मृतिरेव स्वात्मनः संप्राप्तिः, पारमार्थिकी च संवित्तिरित्युक्तं 'स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः संवित्तिः परमार्थतः' इति। यदुक्तम्

'न च युक्तं स्मृतेर्भेदे स्मर्यमाणस्य भासनम् ।
तेनैक्यं भिन्नकालानां संविदां वेदितैष सः ॥'
(ई० प्र० १।४।३)

इति । अत एव च

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'
(ई० प्र० १।५।१४)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपा पराकृत्रिमाहन्ता-परामर्शात्मिका मात्री वीर्यभूमिरियम्, अत्रैवा-वधातव्यमित्युक्तं 'विद्धि सत्ता सा कीर्तिता परा' इति । विद्धीत्यत्र वाक्यार्थस्य कर्मत्वम् ॥ १३९ ॥

तदेवं लौकिकानां घटादीनां शब्दानामेव-मुच्चारणात् स्मरणाद्वा यत्र संविदैकात्म्यावाप्ता-वुपायत्वं तत्र सृष्टिबीजादीनां का वार्ता ? इत्याह

किं पुनः समयापेक्षां
विना ये बीजपिण्डकाः ।

संविदं स्पन्दयन्त्येते
　　नेयुः संविदुपायताम् ॥ १४० ॥

एते संविदुपायतां नेयुरिति काक्का व्याख्येयम् ॥ १४० ॥

ननु समयानपेक्षमेव कथमेवमेते कुर्वन्ति? इत्याशङ्क्याह

वाच्याभावादुदासीन-
　　संवित्स्पन्दात्स्वधामतः ।
प्राणोल्लासनिरोधाभ्यां
　　बीजपिण्डेषु पूर्णता ॥ १४१ ॥

संविदैकात्म्येन स्फुरणात् व्यतिरिक्तस्य वाच्यस्याभावात्, तथा 'उदासीनः' स्वात्ममात्रविश्रान्तेरबहिर्मुखो योऽसौ संवित्स्पन्दस्तद्रूपात् 'स्वधामतः' स्वस्फारात्, तथा प्रमाणात्मनः 'प्राणस्योल्लासात्' प्रमेयोन्मुखं प्रसरणात्, तथा 'निरोधात्' अन्तर्मुखरूपे विश्रमात्

पं० १६ ख० ग० मु० मुखएवरूपे इति पाठः ।

सृष्टिसंहारकारित्वात् सृष्टिबीजादिरूपेषु 'बीजपिण्डेषु पूर्णता' अनन्योन्मुखत्वात् नैराकाङ्क्ष्यमित्यर्थः । घटादिषु लौकिकेषु पुनः शब्देषु वाच्यसद्भावादेरपूर्णत्वात् समयाद्यपेक्षत्वमित्यर्थसिद्धम् ॥ १४१ ॥

एवमेतत् सामान्येनाभिधाय विशेषमुखेनापि दर्शयति

सुखसीत्कारसत्सम्य-
क्साम्यप्रथमसंविदः ।
संवेदनं हि प्रथमं
स्पर्शोऽनुत्तरसंविदः ॥ १४२ ॥
हृत्कण्ठ्योष्ठ्यत्रिधामान्त-
र्नितरां प्रविकासिनि ।
चतुर्दशः प्रवेशो य
एकीकृततदात्मकः ॥ १४३ ॥

ततो विसर्गोच्चारांशे
द्वादशान्तपथावुभौ ।
हृदयेन सहैकध्यं
नयते जपतत्परः ॥ १४४ ॥

सुखादिसंबन्धिन्याः 'प्रथमाया' आद्यायाः संविदो यत् 'प्रथमम्' आद्यमेव संवेदनम्, अनन्तरं हि संवेद्याद्यारूषितत्वमपि भवेदिति भावः । स नाम अनुत्तरसंविदः 'स्पर्शः' परसंवित्साक्षात्कार इत्यर्थः । 'सुखं' चमत्कारातिशयः, 'सीत्कारः' तत्कारणं 'सत्' रमणीयं बाह्यं स्त्र्यादिवस्तु, सम्यगरमणीयमपि स्वोचितेन संनिवेशेनावस्थितं, 'साम्यं' रागद्वेषादिद्वन्द्वपरिहारः । अथ च सुखादीनामाद्या सकारमात्ररूपा या संवित् तस्याः संवेदनादप्येवम्, – इति पराबीजगतस्यामृतवर्णस्यापि तत्त्वं प्रदर्शितम् । यदुक्तं प्राक्

पं० ४ क० पु० जप्येति पाठः ।

'क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव परमामृतम् ।
सीत्कारसुखसद्भावसमावेशसमाधिषु ॥' (तं० ३।१६७)

इति । अस्य च दन्त्यत्वेऽपि कन्दे विश्रान्तिरिति

'कन्दहृत्कण्ठतालवग्र……… ।' (तं० ५।१४५)

इत्यादिवक्ष्यमाणार्थबलादवगन्तव्यम् । ततोऽपि 'अन्तः' मध्यधाम्नि नाडीत्रयस्यापि संमिलिततयात्यन्तं विकस्वरे ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तिनि नाड्याधाराभिधे परस्मिन्नाधारे यः प्रवेशः स चतुर्दशः, तस्येदं विश्रान्तिस्थानमित्यर्थः । नन्वत्र किमसौ केवलतयैव विश्राम्यत्युतान्यथा? इत्याशङ्क्योक्तम् 'एकीकृततदात्मक' इति । 'एकीकृतः' स्वाभेदेनावस्थापितः

'ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।'
(गी० १७।२३)

इत्यादिनीत्या तस्य परस्य ब्रह्मण आत्मा येनासावमृतवर्णसंभिन्न इत्यर्थः । ननु यद्येतदस्य विश्रान्तिस्थानमुदयस्थानं पुनः किम्? इत्या-

शङ्कयाह 'हृत्कण्ठ्यौष्ठ्यत्रिधामा' इति वा-त्स्थ्यात् हृदकारः कण्ठ्यौष्ठ्यश्च औकारस्तयोः संहतत्वात् हृत्कण्ठौष्ठानि त्रीणि 'धामानि' उदयस्थानानि यस्यासावेवंविधः, तेन हृदया-द्युदयक्रमेण त्रिशूलभूमौ विश्राम्यति – इति शूलवर्णतत्त्वम् । तदनन्तरमपि विसर्गोच्चारांशे सावधानो जपतत्परो योगी उभौ 'द्वादशा-न्तपथौ' नासिक्यशिवद्वादशान्तौ सृष्ट्यात्मना 'हृदयेन सहैकध्यं नयते' शक्त्यादिसामर-स्येन द्वादशान्तपर्यन्तं पराबीजमुच्चारयेदित्यर्थः ॥१४४॥

एतदेव संकलयति

कन्दहृत्कण्ठताल्वग्र-
कौण्डिलीप्रक्रियान्ततः ।
आनन्दमध्यनाड्यन्तः
स्पन्दनं बीजमावहेत् ॥ १४५ ॥

'कौण्डिली' शक्तिद्वादशान्तः 'प्रक्रियान्तः' शिवद्वादशान्तः। एवं कन्दात् प्रभृति तत्तदाधारोल्लङ्घनक्रमेण द्वादशान्तपर्यन्तं मध्यधामान्तरिदं सृष्टिबीजं 'स्पन्दनमावहेत्' अनुत्तरसंविदामर्शात्मना प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥ १४५ ॥

एवमेतद्वर्णतत्त्वं संहारबीजानुसारेणापि अभिधत्ते

संहारबीजं खं हृत्स्थ-
मोष्ठ्यं फुल्लं स्वमूर्धनि ।
तेजस्त्र्यश्रं तालुकण्ठे
बिन्दुरूर्ध्वपदे स्थितः ॥ १४६ ॥

तत्र खस्य कण्ठ्यत्वेऽप्युरस्यतोद्रेकेण हृत्स्थत्वं, 'फुल्लं' फकारस्तच्चौष्ठ्यमोष्ठत एवोच्चारात्, 'तेजो' रेफस्तस्य मूर्धन्यत्वान्मूर्धन्येवावस्थानम्। त्र्यश्रमेकारस्तस्यापि कण्ठतालव्यत्वात् तालुकण्ठ एवावस्थितिः। 'ऊर्ध्वपद' इति

पं० १३ ख० पु० एवास्योच्चारादिति पाठः।

शक्तिशिवद्वादशान्तरूपे । एवं हृदादिस्थान-विश्रान्तिपुरस्सरमेवोच्चारो भवेदिति भावः । यस्तु

'स्वरूपे निर्वृतिं प्राप्य ········ ।' (तं० ५।७५)

इत्यादिना संवित्क्रमेण प्रागुच्चार उक्तः सोऽप्यत्रानुसंधेयः, संवित्क्रमस्य सर्वत्रैव भावात्
॥ १४६ ॥

नन्वेवमुक्तेन वर्णतत्त्वेन किं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

इत्येनया बुधो युक्त्या
　वर्णजप्यपरायणः ।
अनुत्तरं परं धाम
　प्रविशेदचिरात् सुधीः ॥ १४७ ॥

बुधः सुधीरित्यत्र 'ज्ञानित्वस्यात्र प्राधान्यमुक्तम्' इति दर्शितम् ॥ १४७ ॥

---

पं० २ ख० पु० वास्योच्चारादिति पाठः ।

तदेवं वर्णतत्त्वमभिधाय भङ्ग्यन्तरेणाप्याह

वर्णशब्देन नीलादि
यद्वा दीक्षोत्तरे यथा ।

ननु किमेतत् स्वमनीषिकयैवोक्तमुत निबन्धान्तरं किंचिदत्रास्ति? इत्याशङ्क्याह 'दीक्षोत्तरे यथा' इति । अर्थाद्दीक्षोत्तराख्ये ग्रन्थे यथोक्तमिति ॥

तदेवाह

संहारत्र्यग्निमरुतो
रुद्रबिन्दुयुतान्स्मरेत् ॥ १४८ ॥
हृदये तन्मयो लक्ष्यं
पश्येत्सप्तदिनादथ ।
विस्फुलिङ्गाग्निवन्नील-
पीतरक्तादिचित्रितम् ॥ १४९ ॥

---

पं० १० क० पु० स्मरन् इति पाठः ।

जाज्वलीति हृदम्भोजे
बीजदीपप्रबोधितम् ।
दीपवज्ज्वलितो बिन्दु-
र्भासते विघनार्कवत् ॥ १५० ॥

'संहारः' क्षकारो 'ना' पुमान् मकारः 'अग्निः' रेफः 'मरुत्' यकारः, एतान् पिण्डीभूतान् रुद्रेणै(णो)कारेण बिन्द्वर्धचन्द्रादिना च युतान् तावद्धृदये स्मरेत् यावत्तदेकतानः सन् सप्तदिनादूर्ध्वं 'लक्ष्यं पश्येत्' ध्येयं किंचित् प्रकटीभवेदित्यर्थः। तद्धि अस्य लक्ष्यमुक्तस्वरूपं, यद्बीजं तदेव प्रकाशतादात्म्यात् दीपस्तेन 'प्रबोधितम्' अभिव्याञ्जितं सत् विस्फुलिङ्गप्रधानाग्निन्यायेन नीलपीताद्यनेकवर्णचित्रीकृतं हृदम्भोजे 'जाज्वलीति' स्पष्टनिरीक्षणीयतामेतीत्यर्थः। एवमत्राप्येकतानस्य सतोऽस्य भावनातारतम्येन दीपवद्ग्रैष्मार्कवच्च यथायथं दाप्तो 'बिन्दुः' वेदयिता स्वात्मा भासते,

'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात् ।' (ई० प्र० १।५।१५)

इत्याद्युक्तयुक्त्या लक्ष्यतामेतीत्यर्थः ॥ १५० ॥

नन्वेवं लक्ष्यतामाप्तेनात्मनास्य किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

स्वयंभासात्मनानेन
तादात्म्यं यात्यनन्यधीः ।
शिवेन हेमतां यद्व-
त्ताम्रं सूतेन वेधितम् ॥ १५१ ॥

अनेनेति आत्मना । शिवेनेति, स्वात्मैव हि परमेश्वरः शिवः,—इति नः सिद्धान्तः, इत्यभिप्रायः ॥ १५१ ॥

न चैवमस्यैव मन्त्रस्य वीर्यं यन्नीलपीताद्यनेकवर्णोदयद्वारेण स्वात्मसाक्षात्कारोऽपि तु सर्वेषाम्, — इत्याह

उपलक्षणमेतच्च
सर्वमन्त्रेषु लक्षयेत् ।

ननु सर्वेषां मन्त्राणां प्रतिनियतमेव फलं संभवेत्,—इत्यविवादः। न हि अमृतबीजं मारणादि कर्तुमुत्सहते क्रूरबीजं वाप्यायनादि,—इति कथं मन्त्रान्तरनिर्वर्त्यं कर्म मन्त्रान्तरेष्वपि भवेत्? इत्याशङ्क्याह

यद्यत्संकल्पसंभूतं
वर्णजालं हि भौतिकम् ॥१९२॥
तत् संविदाधिक्यवशा-
दभौतिकमिव स्थितम् ।

यद्यन्नाम हि

'विकल्पयोनयः शब्दा ………………… ।'

इत्यादिनीत्या संकल्पसंभूतत्वात् 'भौतिकं' भेदानुप्राणितं मायीयं वर्णजातं तत्सर्वमेव संविदाधिक्यवशात् भौतिकत्वन्यग्भावनेन संविद एवोद्रेकादभौतिकमिव स्थितं, भेदरूपत्वेऽपि संविदद्वैतपरमार्थमेवेत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—

यद्यपि संविद एवायं सकलः स्फारः, तथापि तस्या आधिक्येनाप्रतीतौ भेदमयत्वात् एषां प्रतिनियतार्थक्रियाकारित्वम्; आधिक्येन प्रतीतौ पुनः सर्वेषां स्वात्मसाक्षात्कारलक्षणमविशिष्टमेव फलमिति। यदुक्तम्

'एवमेषां स्वरूपांशस्पर्शे शिवमयी स्थितिः।
तदनाच्छुरणे भिन्नसंसारस्थितिवर्तनम् ॥'

इति ॥ १५२ ॥

अतश्च सर्वेषामेव मन्त्राणां संविदात्मन्यनुपाधौ रूपे विश्रान्तस्ताद्रूप्यमेवासादयेत्,—इत्याह

अतस्तथाविधे रूपे
रूढो रोहति संविदि ॥ १५३ ॥
अनाच्छादितरूपाया-
मनुपाधौ प्रसन्नधीः।

नन्विह सर्वमन्त्राणां स्वरूपे तावदविवादसिद्ध एव भेदः,— इति स फलेऽप्यवश्यमाप-

तेत् कारणभेदाधीनत्वात् तस्य, तत् कथमेव-मुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

नीले पीते सुखे दुःखे
संविद्रूपमखण्डितम् ॥ १५४ ॥
गुरुभिर्भाषितं तस्मा-
दुपायेषु विचित्रता ।

'गुरुभिः' वामनदत्ताचार्येण, भाषितमिति संवित्प्रकाशे। अनेनेदमुक्तं भवति—नीलादेर्वाच्य-वाचकात्मनो विश्वस्य संविद्रूपत्वाविशेषात् न कश्चिद्वास्तवो भेदः संभवेदिति। ननु यद्येवं तत् कथमिदं वाच्यवाचकात्मवैचित्र्यमपह्नूयतां नहि भातमभातं भवेत्, तदत्र किं प्रतिपत्त-व्यम्? इत्याशङ्क्याह 'तस्मादुपायेषु विचित्रता' इति। एवं संवित्स्वातन्त्र्योल्लसितं यन्नामेदं वैचित्र्यं तदुपायमात्रविषयमेव पर्यवस्येत्, न तूपेयविषयमपीत्यर्थः। यदभिप्रायेणैव

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः ।

(मा० वि० २।२९)

इत्याद्युक्तम् ॥ १५४ ॥

एवमेकस्मिन्नेवोपेये प्राप्तव्ये परमियदुपाय-जातमुपदिष्टम्, —इत्याह

उच्चारकरणध्यान-
वर्णैरेभिः प्रदर्शितः ॥ १५५ ॥
अनुत्तरपदप्राप्ता-
वभ्युपायविधिक्रमः ।

ननूच्चारादीनामागमेऽप्यनेनैव क्रमेण पाठः,— इति कथमिह तदुल्लङ्घनेन ध्यानोपक्रममेषां निर्देशः कृत? इत्याशङ्क्याह

अकिंचिच्चिन्तनं वीर्यं
भावनायां च सा पुनः ॥१५६॥

---

पं० ६ क० पु० ध्यानस्थानवर्णैः इति पाठः ।

ध्याने तदपि चोच्चारे
　　करणे सोऽपि तद्ध्वनौ ।
स स्थानकल्पने बाह्य-
　　मिति क्रममुपाश्रयेत् ॥ १५७ ॥

'अकिंचिच्चिन्तनं' शांभवः । 'भावना' शाक्तः । सेति भावना । तदिति करणं । स्थानकल्पन इति षष्ठादाह्निकात् प्रभृति वक्ष्यमाणे । एवं पूर्वं पूर्वमुत्तरत्रोत्तरत्र वीर्यमिति पाठक्रमम-पहाय

'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते ।
　　　　　　　　　　　　　　( मा० वि० २।६० )

इत्यादिनीत्यार्थक्रमावलम्बनेनान्यथैवं निर्देशः कृतः, — इति बलीयस्त्वादयमेव क्रमः समा-श्रयणीय इत्यर्थः ॥ १५७ ॥

ननु यद्येवं तत् किमनेनैव क्रमेणोपेयप्राप्ति-र्भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

लङ्घनेन परो योगी
मन्दबुद्धिः क्रमेण तु ।

'पर' इति तीव्रशक्तिपातानुविद्धः। योगीति, परतत्त्वैक्यभाग्भवेदित्यर्थः ॥

ननु पूर्वं पूर्वमुत्तरस्योत्तरस्य वीर्यमित्युक्तेन किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

वीर्यं विना यथा षण्ठ-
स्तस्याप्यस्त्यथ वा बलम् ।
मृतदेह इवेयं स्या-
द्बाह्यान्तःपरिकल्पना ॥ १५८ ॥

यथा पुंस्त्वापादकं वीर्यं विना पुरुषोऽपि 'षण्ठः' स्वकर्मण्यकिंचित्करः, अथवा तस्यापि चेष्टाद्यन्यथानुपपत्त्या किंचिद्वीर्यमस्ति, — इत्यत्यन्तं जडप्रायत्वात् यथा शवशरीरमकिंचित्करम्, एवं स्थानकल्पनादिरूपा बाह्यान्तरुपायकल्पनापि निर्वीर्या सत्यकिंचित्कर्येव भवेदित्यर्थः ॥ १५८ ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्याणवेऽनुत्तरताभ्युपायः
प्रोक्तो नयः स्पष्टपथेन बाह्यः ।

बाह्यो नय इति उच्चारादिः, इति शिवम् ॥

---

गुरुवरचरणप्रसाद-
प्रध्वस्तसमस्तदुर्विकल्पौघः ।
विवरणमेतदरचय-
ज्जयरथ इति पञ्चमाह्निके कश्चित् ॥

---

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनव-
गुप्ताचार्यविरचिते तन्त्रालोके

श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते आणवोपाय-
प्रकाशनं नाम पञ्चममाह्निकम् ॥ ५ ॥

---

श्रीमत्प्रतापभूभर्तुराज्ञया प्रीतये सताम् ।
मधुसूदनकौलेन संपाद्यायं प्रकाशितः ॥

---

श्रीमत्स्वात्मशिवार्पणं वोभवीतु ।

---

पं० ३ क० पु० इत्याणवोऽनुत्तरतेति पाठः ।